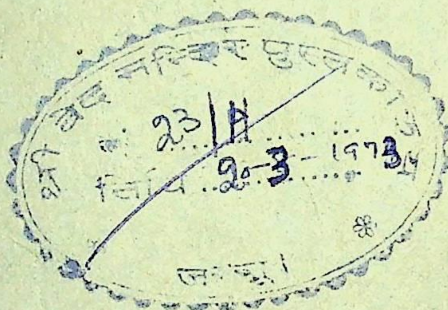
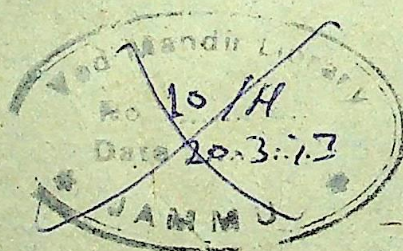
अकबर
बीरबल
विनोद





* ओ३म् *

अकबर बीरबल विनोद

आपका नाम काटकर उसका लिख दूँगा

एक बार अकबर बादशाह के पास सौदागर उम्दा उम्दा घोड़े लेकर आये बादशाह ने घोड़े पसन्द करके खरीद लिये और घोड़ों की फ़रमाइश करके सौदागरों को एक लाख रुपया पेशगो दिलवा दिया। एक दिन बादशाह ने बीरबल को हुक्म दिया कि हमारे मुल्क में जितने बेवकूफ हैं उनकी एक फहरिश्त तैयार करो। बीरबल फहरिश्त तैयार करके अव्वल नम्बर बादशाह का नाम लिखा बादशाह ने देखकर इसका अर्थ पूछा बीरबल ने कहा हजूर ने बेसमझे बूझे सौदागरों को एक लाख रुपया दिलवा दिया वो अब शक्ल दिखलायेंगे। बादशाह ने कहा कि दुरुस्त है लेकिन वो घोड़े ले आये तब क्या होगा ? बीरबल ने कहा कि दुरुस्त है, हुजूर का नाम काटकर उसका नाम लिख दूंगा। इस उत्तर को सुनकर बादशाह चुप हो रहे और कुछ न कहा।

गधे तम्बाकू नहीं खाते

बीरबल तम्बाकू खाता था किन्तु अकबर न खाता था। एक दिन अकबर ने तम्बाकू के खेत में गधे को घास खाते देखा। कहा—बीरबल देखो तम्बाकू कैसी बुरी चीज़ है...

चीज है कि गधा तक इसको नह खाते। बीरबल ने कहा हां हजूर सच है गधे तम्बाकू नहीं खाते। बादशाह बहुत शरमिन्दा हुए।

बीरबल की रानी व बेगम साहबा

एक दिन अकबर ने बीरबल की स्त्री को देख लिया जो कि बहुत सुन्दर थ फिर दरबार में अकबर बीरबल से कहा कि तुम्हारी स्त्री बड़ी तरहदार है। बीरबल बोला, हाँ सरकार पहिले मैं भी यही सोचता था, रन्तु जब से बेगम साहिबा को दखा है तब से उस को सुन्दरता को भूल गया हूं।

लोटा न था

एक बार अकबर ने बीरबल से पूछा ब्राह्मण प्यासा क्यों, गदहा उदासा क्यों। बीरबल ने जबाव दिया लो न था अर्थात् ब्राह्मण के पास लोटा न होने से प्या रहा और गदहा न लोटने से उदास रहा। बादशाह दो प्रश्न का उत्तर एक ही जवाब में सुन कर बहुत खुश हुआ।

नालायक से काम पड़े तो क्या करना

एक दिन की बात है कि बादशाह ने दरबार आम में सबके सामने बीरबल से पूछा ऐ बीरबल ? जिस वक्त किसी नालायक शख्स से काम पड़े तो क्या करना चाहिये। बीरबल ने अर्ज किया कि हुजूर मैं इसका जवाब कल अर्ज करूगा। यह कह बीरबल ने अपने मकान पर जा कर एक जमींदार को बुलाया और समझाया कि ज

मैं कल दरबार को जाऊँ तो मेरे साथ दरबार में चलना, मैं बादशाह से तुम्हारी तरफ इशारा करके अर्ज करूँगा कि यह मेरा भाई और बहुत होशियार है। यह आपको जवाब बखूबी देगा। बस जिस वक्त बादशाह तुमसे कुछ पूछे तो तुम चुप हो जाना वह बहुतेरा तुमसे पूछेगा परन्तु कुछ उत्तर न देना। फिर बादशाह को तुम्हारे चुप होने का कारण बताऊंगा और तुमको बहुत कुछ इनाम दिलाऊंगा। दूसरे दिन बीरबल को देखकर कहा कि बीरबल कल की बात का जवाब लाये? बीरबल ने हाथ बांध कर विनय की कि जहांपनाह आपके सवाल का जवाब यह मेरा भाई बखूबी देगा। तब बादशाह ने उस जमींदार से पूछा कि अगर नालायक से काम पड़े तो क्या करना चाहिये? जमींदार यह बात सुनकर चुप खड़ा रहा। उत्तर न दिया बादशाह ने बहुतेरा पूछा। पर उसने उत्तर न दिया। आखिर मजबूर हो बादशाह ने बीरबल से कहा तेरा भाई कुछ भी नहीं बोलता, चुप हो गया है। तब बीरबल ने अर्ज किया कि हजूर मेरा भाई आपको जवाब देता रहा है कि जिस वक्त नालायक से काम पड़े तो उस वक्त चुप हो जावे यह बात सुनकर बादशाह अपने दिल में बहुत शरमिन्दा हुए कि आज मुझको बीरबल ने नालायक साबित किया।

मल और बेग

एक दिन अकबर बादशाह के एक मुगल ने हँसी से राजा टोडरमल से पूछा कि राजा तुम्हा[illegible] मल शब्द का

क्या अर्थ है। उसके प्रश्न को सुन के राजा ने उत्तर दिया कि मिरजा साहब जो बेग शब्द का अर्थ है सोई मल का है यह सुनते ही मुगल बहुत लज्जित हुआ। मतलब यह था कि संस्कृत में इन शब्दों के माने गू ही के हैं।

आप मुझे चाटने लगे और मैं आपको चाटने लगा

एक रोज सुबह को बादशाह ने बीरबल से कहा रबल! आज रात को मैंने ख्वाब में यह देखा कि मैं तो शहद के गढ़े में गिर गया और तुम मैले के गढ़े में। सुन सुन बीरबल बोला जहाँ पनाह! मैंने भी ऐसा ही ख्वाब देखा है मगर फर्क इतना ही है आप मुझको चाटने लगे थे और मैं आपको चाटने लगा था। यह सुन कर बादशाह बहुत शरमिन्दा हुए।

दो गधे का बोझ

एक दिन बादशाह और बीरबल दोनों शिकार गाह में गये उस रोज शिकार खेलते २ दोपहर का वक्त हो गया। बादशाह ने तपिश के सबब से अपने कपड़े उतार कर बीरबल के हवाले किये। बीरबल उन कपड़ों को अपने कन्धे पर रखे हुए बादशाह के साथ जा रहा था। एकाएक बादशाह ने पूछा कि ऐ बीरबल! इस वक्त तुम पर ये बोझा कितना होगा! बीरबल ने जवाब दिया कि ऐ बादशाह सलामत! कसूर मुआफ हो इस वक्त तो बोझा दो गधे का है। इस दिल्लगी को सुनकर बादशाह बहुत खुश हुए।

डर के मारे पाखाना बैल का सा हो गया

एक दिन अकबर बादशाह और बीरबल किसी बाग़ में सैर कर रहे थे ? इत्तफाकन एक आदमी बाग़ में अङ्गूर चुराने तनहा आया । बीरबल ने उसे देखकर ललकारा और पूछा तू क्या कर रहा है ? उसने कहा कि पाख़ाना फिरता हूं । बीरबल को गुस्सा जों आया तो उसने कहा पाख़ाना कहाँ फिरा है । उसने जल्दी से ज़रा सा गोबर उठाकर दिखाया । बीरबल ने कहा कि अबे ये तो बैल या गाय का गोबर मालूम होता है, तेरा पाख़ना नहीं है । उसने जवाब दिया कि आपने जो ललकारा तो मैं डर कर आदमियत से पाख़ाना न जा सका । पाखाना गाय भैंस का सा हो गया । यह सुन बीरबल को हँसी आई और बादशाह हँसते २ बेताब हो गये ।

किस नदी का पानी अच्छा होता है

एक दिन बादशाह और बीरबल जमुना के किनारे फिर रहे थे और उसके बहाव का तमाशा देख रहे थे उसी समय बादशाह ने पूछा, ऐ बीरबल ! किस नदी का पानी अच्छा होता है ? बरीबल बोला हुज़ूर जमुना का । इस पर बादशाह ने यह सवाल किया तुम्हारे मज़हब में तो गङ्गा का बड़ा महात्म है, फिर जमुना के पानी को अच्छा किस तरह बतलाते हो ? बीरबल ने कहा हुजूर ! गङ्गाजल, पानी नहीं अमृत है । यह जवाब सुनकर बादशाह बहुत खुश हुए ।

तुम बड़े गधे हो

एक दिन दरबार में बादशाह के रोबरू बीरबल क पाद निकल गया। बादशाह ने खफ़ा होकर बीरबल से कहा तुम बड़े गधे हो, तब बीरबल ने अर्ज किया कि जपाँपनाह मैं बड़ा अक़लमन्द था, परन्तु थोड़े दिन से गदहों की सोहबत में रह कर आदत बिगड़ गई है। यह बात सुनकर बादशाह शरमिन्दा हुए।

तारों की संख्या, पृथ्वी का केन्द्र और स्त्री पुरुष कितने हैं

एक दिन अकबर बादशाह से ख़ोजासर ने कहा, जनाब बीरबल बड़ा हाज़िर जवाब है। इससे ऐसा सवाल करना चाहिये कि जवाब न आवे। बादशाह ने कहा तू कहे सोइ पूछा जावे। खोजा ने कहा आज बीरबल से पूछा जावे। पृथ्वी का केन्द्र किस जगह है, आसमान में तारागण कितने हैं और इस संसार में सब स्त्री पुरुष कितने हैं? यह सुनकर बादशाह ने कहा कि सच है यह मुश्किल है बीरबल को बुलाओ। यह बात कह ही रहे थे कि बीरबल भी आ ही पहुंचा। बादशाह ने बीरबल से यही सवाल किये जो खोजा ने कहे थे। बीरबल ने विनय की कि इन सवालों का उत्तर कल दूंगा। यह कह मकान पर चले गये। सुबह को बीरबल अपना एक मेंढा और लोहे की कील लेकर बादशाह की खिदमत में पहुंचे। बादशाह ने सूरत देखते ही बोले बीरबल कल के सवालों का जवाब लाया? बीरबल

निवेदन किया कि जनाबआली ! हाज़िर हुआ । यह कह बादशा ह के महल के आंगन में बीचों बीच लोहे की कील गाड़ दी और कहा कि हजूर पृथ्वी का केन्द्र यह है अगर आप इस बात को झूठ समझते हों तो पैमाइश करा लीजिये । यह सुन बादशाह चुप हुआ और दूसरे सवाल का उत्तर मांगा तब बीरबल ने वह मेढ़ा सामने कर दिया और कहा जनाबआली ! लीजिये इस मेंढ़े के शर र पर जितने रोम हैं उतने आसमान में तारागण हैं। इसमें भी अगर कुछ चिन्ता उपजे तो गिनती करवा लीजिये । और तीसरे प्रश्न का उत्तर भी बहुत ठीक लाया परन्तु एक बात से चित को भ्रम उत्पन्न होता है । वह यह है कि खोज़ा लोग किस गणना में गिने जावें । यह न स्त्री है न पुरुष हैं । नपुन्सक का नाम लेना ही बुरा है । इससे मेरी समझ में यह आता है कि दुनियाँ भर के सब खोजा मरवा डाले जावें तो हिसाब दुरुस्त हो जावे । यह बात सुनकर बादशाह बहुत हँसे और खोजा सर अपने दिल में अत्यन्त शरमाया । अकबर ने बीरबल को इनाम देकर विदा किया ।

आधा आपका

एक दिन बादशाह ने बीरबल से पूछा तुम ज़मीन की ओर क्यों देखते चलते हो । बीरबल बोला इसमें मेरा बाप गुम हो गया है ादशाह ने कहा हम ढूँढ दें तो तुम हमको क्या दोगे बीरबल ने कहा हुजुर ! आधा बाप मेरा आधा आपका । यह सुनकर बादशाह हँसने लगे ।

दोहे में प्रश्न का उत्तर

एक दिन अकबर ने बीरबल से कहा कि एक बात तुमसे पूछते हैं। अगर उसका जबाव न दे सका तो तुझ को कत्ल कराऊँगा। बीरबल ने पूछा कि खुदावन्द वह कौनसी बात है। उस वक्त बादशाह ने यह दोहा कहाः—

❀ दोहा ❀

कौन चाहत है बरसना, कौन चाहत है धुप्प।
कौन चाहत है बोलना, कौन चाहत है चुप्प॥

इस दोहे को सुनकर बीरबल ने उत्तर दिया :—

॥ दोहा ॥

माली चाहे बरसना, धोबी चाहे धुप्प।
साधु तो चाहे बोलना, चोर चाहे चुप्प॥

इस दोहे को बीरबल ने कहा था कि उसी वक्त मुल्ला दो प्याजे आ मौजूद हुए। बादशाह ने मुल्ला दो प्याजे को देखते ही हुक्म दिया कि दोनों दोहों का जवाब दो। इस लिये मुल्ला ने भी उसी वक्त यह दोहा कहा

॥ दोहा ॥

अति का भला न बरसना, अति की भली न धुप्प।
अति का भला न बोलना, अति की भली न चुप्प॥

मुल्ला दो प्याजे के दोहे को सुन कर बादशाह निहायत खुश हुआ और बहुत कुछ इनाम दिया।

सबके सब बह जायेंगे

एक दिन बादशाह बीरबल को साथ लिये, घूमते हुए किसी गांव में जा पहुंचे। अकस्मात आदमी से

भेंट होगई। बादशाह ने पूछा तेरा क्या नाम है। वह बोला "गंगा"। फिर पूछा तेरे बाप का क्या नाम है। वह बोला "जमुना"। तब बीरबल ने पूछा कि तेरे भाई का क्या नाम है। वह बोला "नर्मदा" फिर पूछा कि तेरी माँ का नाम क्या है। वह बोला "सरस्वती"। तब बीरबल ने कहा ठहरो। पहले मुझे नाव का बंदोबस्त कर लेने दो नहीं तो सबके सब वह जायेंगे।

रखपत और रखापत

एक दिन बादशाह के दरबार में यह बात हो रही थी कि पत पांच हैं। १ इन्द्रपत, २ सोनपत, ३ पानीपत ४ बाघपत और ५ बलपत। बीरबल ने अर्ज किया हुजूर आली दो पत और है एक रखपत दूसरा रखापत। बादशाह ने इनका मतलब पूछा। उसने जवाब दिया, इन्हीं पत से शराफत की पहचान व अपनी इज्जत और पराये की इज्जत हो सकती है। बादशाह मतलब समझ कर खुश हुये।

हुजूर गधे आते हैं

एक दिन बादशाह ने हँसी में बीरबल से कहा आज तुम बहुरूपिये बनो। बीरबल उसी वक्त कुम्हार की सूरत बना, गधा लेकर आ पहुंचा। रस्ते में बादशाह मिले। उन्होंने कहा अबे गधे वाले! हट जा। बीरबल ने हंसकर जवाब दिया मैं पहिले ही से कह रहा हूँ कि हुजूर गधे आते हैं, बच जाइये। बादशाह यह सुन कर बहुत लज्जित हुये।

लाइन छोट हो जाय

एक दिन सब वजीरों ने मिलकर बादशाह से कहा कि हम लोग भी बड़े अक्लमन्द हैं, फिर क्या कारण है कि आपने बीरबल को बड़ाई दी ? बादशाह ने कुछ उत्तर न दिया और दिल में कहा कि अब किसी दिन इन को बीरबल से शर्मिन्दा कराऊँगा। निदान एक दिन बादशाह ने सब अमीर और वजीरों को अपने पास बिठलाया और एक लाइन ज़मीन पर खींचकर कहा कि इस लाइन से हाथ न लगाया जाय, मगर छोटी होजावे इस बात को सुनकर सब हैरान और परेशान हुये कि बिना हाथ लगे लाइन किस प्रकार छोटी हो सकती है इस तरह सोचते सोचते बहुत देर हो गई। तब बीरबल ने तुरन्त ही आज्ञानुसार एक लाइन उस लाइन के बराबर किसी क़दर उससे बड़ी खींचकर सब से पूछा कि अब इन में कौनसी लाइन छोटी है ? सब ने कहा कि बादशाह की लाइन छोटी है यह बात सुनकर बादशाह ने फरमाया कि बीरबल की अक्लमन्दी का आपने मुलाहिजा किया कि बगैर हाथ लगाये मेरी लाइन छोटी करदी वजीर लोग निहायत शरमाये।

झक मारते हैं और गू खाते हैं

एक दिन अकबर बादशाह जमुना के किनारे मछली का शिकार खेल रहे थे। एक आदमी बादशाह को शहद भेंट कर गया था। जब बादशाह शहद चाट रहे थे, उसी समय बीरबल बादशाह के पास से उठ कर अपने

मकान को जाते थे। रास्ते में दो मुसलमानों ने जो बादशाह से मुलाकात करने को जाते थे बीरबल से पूछा कि बादशाह इस कहां हैं और क्या करते हैं? बीरबल ने उत्तर दिया कि जमुना किनारे झक मारते हैं, और गू खाते हैं यह बात सुनकर वह मुसलमान अपने दिल में नाराज हुये और नाराज़ी में बादशाह के सामने जा खड़े हुय बादशाह ने पूछा कि आज तुम लोग उदास क्यों हो? उन्होंने कहा कि कसूर माफ हो तो कहूं। बादशाहने कहा कसूर माफ करते हैं कहो। तो वह बोले हमसे रास्ते में बीरबल से मुलाकात हुई और हमने उनसे पूछा कि बादशाह क्या करते हैं? उसने बेधड़क साफ २ जवाब दिया कि जमुना किनारे झक मारते हैं और गू खाते हैं। हमको यह बुरा मालूम होता है। यह सुन बादशाह ने उत्तर दिया तुम इस बात का बुरा न मानो। बीरबल ने सच कहा है कि मैं उस वक्त मछली का शिकार कर रहा था और संस्कृत में मछली को झक बोलते हैं। यह शहद, जो मक्खियों का गू है इसको मैं खाता जाता था। यह सुनकर वह मुसलमान लोग निहायत शर्मिन्दा हुये और बीरबल के भाग्य को सराहने लगे।

दो महीने का एक महीना।

एक दिन बादशाह ने बीरबल से कहा आज से हम दो महीने का एक महीना कायम किया है। बीरबल बोला तब तो बड़ा आनन्द होगा। एक महीना चांदनी रहा करेगी। बादशाह यह सुनकर शर्मिन्दा हुए।

हज़ार जूते

एक दिन बादशाह ने हंसी में बीरबल के जूते चुरा लिये । चलते वक्त बीरबल जूते ढूंडने लगा। जब न मिले तो बादशाह ने कहा अच्छा हमारी तरफ से इनको जूते दो। बीरबल ने नये जूते पहन कर दुआ दी, खुदा आपको दोनों जहान में हजार जूते दे। बीरबल की यह मतलब भरी हंसी सुनकर बादशाह हंसने लगे।

चार सवाल का एक जवाब

एक दिन बादशाह ने बीरबल से पूछा पान क्यों सड़ा घोड़ा क्यों अड़ा विद्या क्यों भूली, रोटी क्यों जली ? इन चारों सवालों का एक जवाब दो।

बीरबल ने कहा जहांपनाह ! फेरा न गया। बादशाह यह सुनकर बहुत ही खुश हुए और बीरबल को बहुत कुछ इनाम दिया।

पाद और दस्त

एक दिन बादशाद ने बीरबल से कहा तुम्हारी हिन्दी जवान बिलकुल गन्दी है, उसमें पांव को जो इन्सान के जिस्म का एक अच्छा हिस्सा है, जिसकी मदद से तीर्थ करते हैं पाद कहते हैं। बीरबल ने जवाब दिया जहांपनाह ! कसूर माफ हो, फारसी बिलकुल ही बुरी है, जिसमें बदन के सब से अच्छे हिस्से हाथ को दस्त कहते हैं। बादशाह बीरबल के इस जवाब को सुनकर हंसने लगे।

इन्द्र बड़ा या हम

एक दिन बादशाह सबसे पहले दरबार में आकर बैठे। बाद में जो कोई दरबारी दरबार में आता गया उसी से पूछते गये इन्द्र बड़ा या हम। दरबारियों में से कोई भी इस सवाल का जवाब न दे सका। इसकी वजह यह थी कि जो इन्द्र को बड़ा बतलावे तो उसे बजह समझानी पड़े। दरबारी लोग इस दुविधा में फँस गये। थोड़ी देर बाद बीरबल आया तो बादशाह ने उससे भी वही सवाल किया। बीरबल ने हाथ जोड़ कर अर्ज की कि जहांपनाह इन्द्र से आप बड़े हैं। बीरबल के मुँह में ऐसा जवाब सुनकर बादशाह चौंक उठा उसने पूछा यह क्योंकर मुमकिन है। बीरबल ने जवाब दिया हमारे शास्त्र के मुताबिक ब्रह्मा ने इन्द्र और आपकी मूर्तियां तैयार कीं। फिर दोनों में से बड़ा कौन है, इस बात को जाँचने के लिये दोनों को तराजू में रखा। उसके एक पलड़े में आपकी मूर्ती व दूसरे में इन्द्र की रक्खी गई। आप में इन्द्र के बनिस्बत बोझा ज्यादा था। इसलिये आप नीचे रह गये और इन्द्र हलका था इस वजह से ऊपर चला गया। आप नीचे आये इसलिये आपको मुल्क का राज मिला और इन्द्र ऊपर गया उसको बहिश्त का राज्य मिला। अब कहिये आप को बड़ा बताने में कौनसी भूल की। बीरबल के इस जवाब से बादशाह बहुत खुश हुआ। बीरबल के र रूप— (मुक्ति) है— में खास बात यह थी की उस ने इतनी ही बा न्त नागर जी बादशाह को नीचा और इन्द्र

3 सम्पादक—

को ऊँचा बतला दिया था मगर बादशाह इस बात को समझ न सका।

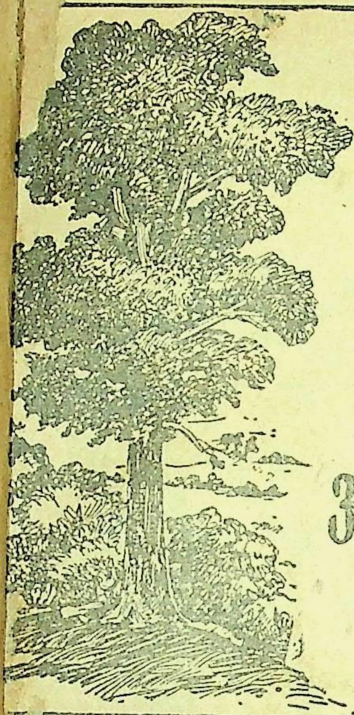
जाड़ा कितना है

जाड़े के मौसिम में जब खूब ठण्ड पड़ रही थी बादशाह ने बीरबल से कहा जाड़ा कितना है बीरबल ने जवाब दिया गरीब परवर! दो मुट्ठी ? फिर बादशाह ने पूछा मुट्ठी कैसे! बीरबल ने उसी वक्त महल नीचे एक गरीब आदमी को दिखलाया, जो अपने दोनों हाथों मुट्ठियां बांधकर कांख में दबाये जा रहा था। बादशाह बीरबल के इस जवाब को मान लिया।

हथेली पर बाल क्यों नहीं हैं

एक दिन बादशाह ने बीरबल से कहा क्यों बीरबल मेरी हथेली पर बाल क्यों नहीं हैं? बीरबल ने कह हुजूर देते घिस गये।तब बादशाह कहा जो कुछ नहीं देते उनके हाथ पर बाल क्यों नहीं होते! तब बीरबल बोला लेते लेते। फिर बादशाह ने कहा जो लोग न लेते और न हैं उनके बाल क्यों नहीं होते? तब बीरबल ने कहा हुजूर वे लोग इस अफ़सोस में हाथ मला करते हैं कि हाय संसार में रह कर न कुछ दिया और न कुछ लिया। बीरबल के इस [illegible] से बादशाह बड़े खुश हुए।

...ा ३७ न० पै० उत्तरप्रदेश एवम् मध्यप्रदेश शिक्षाविभाग द्वारा स्वीकृत वार्षिक मूल्य २) ५० न० पै०



कल्पवृक्ष

अध्यात्म विद्या का मासिक पत्र

उज्जैन, मध्यप्रदेश

दिसम्बर १९६२ ई०, जनवरी १९६३ ई०

वर्ष ४१ | KALPA-VRIKSHA | सम्वत्
संख्या ४-५ | A MAGAZINE OF DIVINE KNOWLEDGE | २०१९ वि०

❀ सम्पादक—बालकृष्ण नागर ❀

स्वर्ण-सूत्र

आत्म-शक्ति

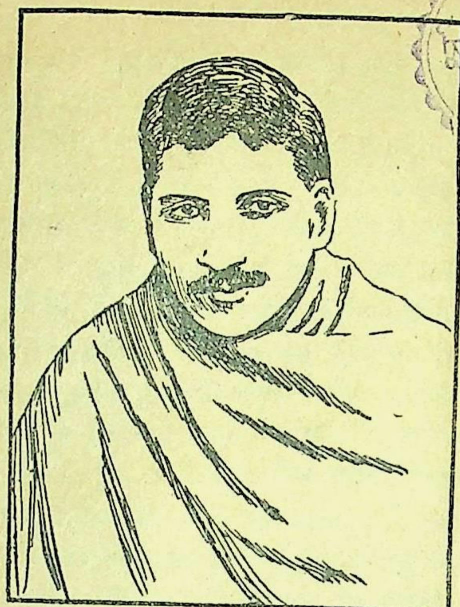
संत नागर जी

मैं अपने हृदय में परम शांति का अनुभव करता हूँ। मेरी समस्त शंकाएँ और समस्याएँ हल हो चुकी हैं। हृदयस्थ-देव के शरण में जाने से मेरे सन्देह से दूर हो गये हैं। अब मैं भयंकर विपत्तियाँ आने पर भी अपने ध्येय से कभी विचलित नहीं होता। प्रतिकूल दुःखदायी परि-स्थिति मेरी आत्मा को प्रभावित नहीं कर सकती। मैं अपनी आत्म-शक्ति से बाह्य संसार को जैसा चाहता हूँ वैसा चलाता हूँ। मेरे आत्मा के अनुकूल ही मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर व्यापार करते हैं।

मुझे गर्मी, सर्दी, भूख-प्यास, मान-अपमान हानि नहीं पहुँचा सकते। मेरा आत्मा अनंत बल वाला है। मेरी आत्म-शक्ति के संमुख कोई मनोविकार ठहर नहीं सकते। मेरे हृदय के शासक परमात्म देव हैं। मेरे शांत हृदय को कोई भी विकार या क्षोभ कभी उत्तेजित नहीं कर सकता।

———

संस्थापक—स्वर्गीय डॉ० दुर्गाशङ्कर नागर





कल्पवृक्ष

अध्यात्म-विद्या का मासिक पत्र

उज्जैन, मध्यप्रदेश

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ गीता॥

वर्ष ४१ } उज्जैन, दिसम्बर सन् १९६२ ई०, सं० २०१९ वि० { संख्या ४

शक्ति का रहस्य

स्व० संत नागर जी

तुम नीरे माटी के पुतले नहीं हो, हाड़, मांस और रक्त के थैले नहीं हो, निर्जीव मुर्दे के समान नहीं हो, किन्तु सजीव शक्ति सम्पन्न पुरुष हो। तुम्हारे जीवन का अस्तित्व किसी विशेष उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए है। हर एक मनुष्य में दैवी शक्ति छिपी हुई है और वह सब कुछ कर सकता है। संशय और संदेह को अपने हृदय-मन्दिर से बाहर निकाल दो; निर्बलता, निराशा, भय और चिंता से मुक्त हो जाओ। भय कमजोरी है, भय निर्बलता है, भय पाप है, भय मृत्यु है और भय मनुष्य जाति का सब से प्रबल शत्रु है। सदा निर्भय रहो, चेतन रहो, जाग्रत रहो और भूल कर भी चिन्ता, भय और शङ्का को मनो मंदिर में प्रवेश न होने दो। कभी निराश मत हो, चट्टान के सदृश दृढ़ रहो, अपने मार्ग पर दृढ़ता पूर्वक डटे रहो, समस्त मानसिक और शारीरिक निर्बलताओं पर विजय प्राप्त करो। निर्बल मनुष्य के लिए कहीं स्थान नहीं है, कोई निर्बल व्यक्ति स्वतंत्र नहीं हो सकता है।

शक्ति ही जीवन है, शक्ति ही धर्म है, शक्ति ही सत्य है, शक्ति ही सब कुछ है; शक्ति, शक्ति, शक्ति की ही सर्वत्र आवश्यकता है। शक्ति तुम्हारे अंदर है, शक्ति तुम्हारे बाहर

है, शक्ति सर्वत्र है, शक्ति तुम्हारे रोम रोम में संचार कर रही है, सब दूर शक्ति का ही प्रकाश है, अनन्त शक्ति तुम्हारे पीछे है। संसार के विचारों को हृदय से हटा दो और शक्ति के विचारों में लवलीन हो जाओ। शक्ति संचय करो, शक्ति की उपासना करो, शक्ति तुम्हें सदा प्रसन्न रखेगी। बलवान बनो, निर्भय बनो, वीर बनो, साहसी बनो, स्वतंत्र बनो और शक्तिशाली बनो।

तुम देह नहीं हो, तुम अहंकार नहीं हो, तुम आकार नहीं हो, तुम हाड़-मांस के पंजर नहीं हो; किन्तु तुम आत्मा हो, तुम शक्ति के पुतले हो, तुम शक्तिशाली हो, तुम सत्य हो, तुम स्वतंत्र हो, तुम अमर हो, तुम शिव हो, तुम कल्याण हो, तुम मंगल हो, तुम पवित्र हो, तुम बलवान हो, तुम स्वच्छ हो, तुम शुद्ध हो, तुम आनंदमय हो, तुम निर्दोष हो, तुम पूर्ण हो, और तुम सब प्रकार के भय से मुक्त हो। उठो, जागो, आगे बढ़ो और पूर्ण शक्तिशाली बनो। शक्ति के सन्मुख सब नतमस्तक होते हैं।

शक्ति का स्रोत परमात्मा है; वही शांति, सुख और आनंद का स्थान है। परमात्मा ही सब कुछ है, वही सबका रक्षक है। शुद्ध चित्त होकर अनन्य भाव से सर्वशक्तिमान परमात्मा के चरणों में शरणापन्न हो जाओ, जिसके प्रताप से गूँगा वाचाल हो जाता है, लँगड़ा पहाड़ को लाँघ जाता है; उस परम पिता की सच्ची प्रार्थना करो, रात-दिन प्रार्थना करो, जगत् के कल्याण के लिए प्रार्थना करो, आत्मशक्ति के लिए प्रार्थना करो। निर्बल आत्मा किसी भी वस्तु को प्राप्त नहीं कर सकती है; इसीलिए शक्ति संपादन करो। विश्व में सुख, शांति, शक्ति, प्रकाश, प्रेम एवं भ्रातृ-भाव का प्रचार हो, इसी लिए प्रार्थना करो। महाशक्ति की उपासना से तुम में आश्चर्यजनक शक्ति की जाग्रति होगी तब तुम असाध्य कार्य को भी साध्य कर सकोगे, असंभव को संभव कर दिखाओगे। संसार में शक्ति प्राप्त करना ही सब का मुख्य उद्देश्य है और यही जीवन का चरम लक्ष्य है। शक्ति संपन्न होने पर तुम्हारे भय, चिंता, फिक्र और निर्बलता के सब विचार दूर हो जावेंगे। ईश्वर की सच्ची प्रार्थना से संसार की समस्त बुराइयाँ दूर हो जायँगी, सर्वत्र सुख शांति की लहर फैलेगी, सब दूर मंगल ही मंगल होगा। "कल्पवृक्ष" का, पाठकों के लिए, नवीन वर्ष का यही दिव्य संदेश है।

महत्वपूर्ण निवेदन

यदि इस अंक के साथ आपका वार्षिक मूल्य समाप्त होने की सूचना आपको मिली है तो अगले वर्ष का मूल्य २॥) हमें मनीआर्डर से भेज दीजिए अन्यथा वी० पी० से आपको ३।) देने होंगे। ग्राहक न रहना हो तो एक पोस्टकार्ड लिखकर हमें सूचित कर दें अन्यथा आपके मौन रहने से हम वी० पी० भेज देंगे और आप वापस कर देंगे तो हमें ।) डाकखर्च का नुकसान होगा। ग्राहक नम्बर अवश्य लिखिए। धन्यवाद!

साधन के लिए सर्वोत्तम समय

स्वामी शिवानन्दजी सरस्वती

ब्रह्ममुहूर्त्त में उठकर ध्यान का अभ्यास कीजिए। किसी हालत में भी इसको न त्यागिए। प्रातः साढ़े तीन बजे से साढ़े पाँच बजे तक का समय ब्रह्ममुहूर्त्त है। यह ध्यान के लिए बड़ा ही अनुकूल है। नींद के बाद मन ताजा रहता है। यह शांत तथा मौन रहता है। इस समय मन में सत्व की प्रधानता रहती है। वातावरण में भी सत्व की प्रधान रहती है।

इस समय मन सापेक्षतः कोरे कागज की भाँति स्वच्छ रहता है। सांसारिक संस्कार नहीं रहते। राग-द्वेष की धाराएँ मन में गहरी घुसी नहीं होतीं। इस समय आप अपनी इच्छानुसार अपने मन को जैसा चाहें बड़ी सुगमतापूर्वक वैसा बना सकते हैं। इस समय मन को किसी भी ढाँचे में ढाला जा सकता है। आप सुगमता पूर्वक मन को दिव्य विचारों से पूर्ण कर सकते हैं।

सारे योगी, परम हंस सन्यासी, साधक तथा हिमालय के ऋषिगण इस समय अपना ध्यान प्रारम्भ करते हैं। तथा समस्त जगत में अपने स्पन्दन भेजते हैं। आप आध्यात्मिक प्रभावों से बहुत ही लाभान्वित होंगे। आपको अनायास ही ध्यान लगने लगेगा। यदि आप इस समय को ध्यान में नहीं लगाते तो आप बहुत ही क्षति में हैं। कुम्भकर्ण न बनिए। ज्ञानदेव की भाँति योगी बनिए।

जाड़े के दिनों में ठंडे पानी से स्नान करना आवश्यक नहीं हैं। मानसिक स्नान ही पर्याप्त है। कल्पना कीजिए तथा भावना कीजिए, "मैं पवित्र त्रिवेणी में स्नान कर रहा हूँ, या काशी के मणिकर्णिका घाट पर स्नान कर रहा हूँ।" शुद्ध आत्मा का स्मरण कीजिए। इस मन्त्र का जप कीजिए—"मैं सदा शुद्ध आत्मा हूँ।" यह सर्वोत्तम स्नान है। यह ज्ञान-गङ्गा का स्नान है। यह मलों का निवारक है। यह सारे पापों को भस्म कर देता है। शीघ्रतापूर्वक शौच से निवृत्त हो लीजिए तथा दाँतों को साफ कर लीजिए। दाँतों को साफ करने तथा स्नान करने में अधिक समय नष्ट न कीजिए। जल्दी कीजिए। शीघ्र तैयार हो जाइए। यह ब्रह्ममुहूर्त्त चला जायगा। इस बहुमूल्य समय को जप तथा ध्यान में लगाइए।

मुँह, हाथ तथा पाँव को शीघ्र ही धो लीजिए। मुँह तथा सिर पर ठंडे जल का छींटा दीजिए। इससे आपके मस्तिष्क तथा आँखों में शीतलता आवेगी। सिद्ध, पद्म, अथवा सुखासन में बैठ जाइए। ब्रह्म की परम चोटी को, जो महिमा तथा ज्योति की पराकाष्टा है, प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील बनिए।

यदि आपको प्रातः उठने की आदत नहीं है तो एलार्म घड़ी रखिए। आदत पड़ जाने पर कोई कठिनाई नहीं होगी। आपका चित्त आज्ञाकारी सेवक की नाईं आपको उचित समय पर उठा दिया करेगा।

यदि आपको पुराना कब्ज है तो प्रातः उठ कर मुँह धो लेने के बाद एक गिलास ठण्डा या गुनगुना पानी पी लीजिए। हठयोग शास्त्र में इसे उषःपान कहते हैं। इससे आपका शौच खुल कर आयेगा। आप त्रिफला जल भी पी सकते हैं। दो हर्रें, दो आँवला या दो बहेड़ा एक लोटा ठंडा जल में भिगो कर रखिए। प्रातः दाँत साफ कर उस जल को पी लीजिए। आप इन औषधियों का तैयार चूर्ण भी रख सकते हैं। एक या दो चम्मच औषधि जल में डाल दिया करें।

प्रातः शैया त्याग करते ही शौच जाने की आदत डालिए। यदि आप अपने पुराने पापों के कारण कब्ज की असाध्य बीमारी से पीड़ित हैं तो उठते ही ध्यान को प्रारम्भ कर दीजिए। ध्यान समाप्त कर लेने पर आप एक प्याला गर्म दूध की सहायता से शौच के लिए जा सकते हैं।

बिछावन से उठते ही जप तथा ध्यान का अभ्यास कीजिए। यह आवश्यक है। जप तथा ध्यान समाप्त कर लेने पर आप आसन, प्राणायाम, गीता तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों का स्वाध्याय कर सकते हैं।

प्रत्येक संध्या भी ध्यान के लिए अनुकूल है। ब्रह्ममुहूर्त तथा सायंकाल में सुषुम्ना नाड़ी शीघ्र ही चलने लगती है। सुषुम्ना नाड़ी के चलने पर बिना कठिन प्रयास के ही आप गम्भीर ध्यान तथा समाधि में प्रवेश कर सकेंगे। यही कारण है कि ऋषि, योगी तथा सद्ग्रन्थ इस समय की बड़ी प्रशंसा करते हैं। जब श्वास दोनों नासिकाओं से चले तो समझ जाइए कि सुषुम्ना काम कर रही है। सुषुम्ना के समय ध्यान को बैठ जाइए तथा आत्मा की आंतरिक शांति का सुख प्राप्त कीजिए।

कुछ दिव्य स्तोत्रों या श्लोकों या गुरु-स्तोत्रों का कीर्तन या ओ३म् का बारह बार जप कर लीजिए या पाँच मिनट तक कीर्तन कीजिए। इससे आपका मन समुन्नत हो जायगा।

आध्यात्मिक शक्ति संचय के चार उपाय

डॉ० रामचरण महेन्द्र, एम० ए०, पी-एच० डी०

जिस प्रकार शारीरिक व्यायाम करने से मनुष्य का शरीर बढ़ता है, परिपुष्ट होता है, उसका विकास होता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक व्यायाम करने से मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ शक्तियों अर्थात् आध्यात्मिक शक्तियों की वृद्धि और उन्नति होती है। यह मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ शक्ति है। अतः पहले निम्न उपायों से आध्यात्मिक शक्तियों का विकास करना चाहिए।

योगवशिष्टकार ने आध्यात्मिक शक्ति के संचय के निम्न अमोघ उपाय बताये हैं। वे ये हैं :—

१—शम २—सत्संग ३—संतोष और ४—विचार।

इनमें से प्रत्येक उपाय का अर्थ और छिपा हुआ अभिप्राय समझ लेना चाहिए।

शम :—

मन को नाना उपायों से नियमित करना है अर्थात् कण्ट्रोल करना। जब जैसी स्वस्थ स्थिति हो, उसी स्वस्थ स्थिति में रख पाना शम है। मन बड़ा चंचल है। इसके निग्रह के लिए हमें सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए। जब प्रथम बार चित्त चंचल हो, किसी वासना की ओर आकृष्ट हो, तभी सावधान हो जाना चाहिए। समस्त पापमय अशुभ इच्छाओं से अभ्यासपूर्वक बचना चाहिए।

मन को काबू में रखने के लिए शास्त्रों में यह उपाय बतलाये हैं—

शास्त्रसज्जन सम्पर्क वैराग्याभ्यासपूर्वकम्।
सदाचार प्रवृत्तिर्या प्रोच्यते या 'विचारणा॥

अर्थात् शास्त्रों के अध्ययन, उनपर गम्भीरता से मनन और सत्पुरुषों से संग तथा विवेक-वैराग्य के अभ्यासपूर्वक सदाचार में लगने से मन वश में होता है। मन की लगाम दृढ़ता से पकड़नी चाहिए, क्योंकि तनिक से ढीलेपन से

यह वासना या उत्तेजना अथवा भावुकता के वशीभूत होकर उद्दण्डता करता है। कल्पना का भी प्रयोग शुभ मानसिक चित्रों के निर्माण के लिए ही होना चाहिए। कल्पना के गलत प्रयोग से स्वस्थ शरीर भी बीमार हो जाता है। उफनते आवगों और गन्दे विचारों को शुभ कार्यों में लग कर मार डालिए।

सत्संग :—

अच्छे विद्वान् सुप्रवृत्तियों वाले व्यक्तियों, विचारों और उत्तम पुस्तकों के साथ रहने से मनुष्य की सुवृत्तियाँ सबल होती हैं और वासनाएँ नष्ट होती हैं। संग का प्रभाव ही वातावरण बनाता है। मनुष्य जैसे व्यक्ति, स्थान या पुस्तक का संग करता है, वैसा ही बनता जाता है। विद्वानों और विचारशील व्यक्तियों के सम्पर्क में रहने से हमारी विवेक शक्तियाँ जाग्रत होती हैं। उनसे बातचीत तथा विचार करने से हमारी भ्रान्त धारणाओं का . निराकरण होता है। कर्त्तव्यों का बोध होता है। शुभ तथा अशुभ व्यवहार का अन्तर मालूम होता है।

अपनी रुचि तथा सामाजिक परिस्थिति के अनुसार पवित्र आचरण तथा शुभवृत्ति के विद्वानों को छाँट कर उनके संग तथा उनके विचारों में रहना चाहिए। अच्छी पुस्तकों का संग अच्छे मित्र के समान गुणकारी है।

सन्तोष :—

संतोष हमारी शक्तियों का अपव्यय रोकता है। संतोष की शक्ति महान् है। इसको धारण करने से मनुष्य व्यर्थ के कार्यों से अपनी शक्तियाँ रोकता है। रुपया, यश, शारीरिक शक्ति एकत्रित करने की एक हद होती है। उस तक पहुँचने के लिए मनुष्य कार्य करे, पर जब वह उस स्तर तक पहुँच जाय, तो उसे चाहिए कि वह संतोष करे और ऊँचे कार्यों में अपनी शक्तियों को लगावे। विद्वत्ता, समाज सेवा, जाति सेवा, देश की पिछड़ी जाति, नारी जाति की सेवा में अपनी उच्चतम शक्तियों को लगावे।

सत्-विचार :—

सद्-विचार जीवन की बहुमूल्य निधि है। इसको धारण करने से हम विवेक प्राप्त करते हैं। विवेक हमारी वह शक्ति है जिसके द्वारा हम भले बुरे, सत् असत्, उचित अनुचित की पहचान करते हैं।

समस्त इन्द्रियों, भोगों से सम्बन्धित जो विचार हैं, उन्हें त्याग देना चाहिए। सत् विचार धारण करने से असत् और अनीति से आसक्ति टूट जाती है और विवेक का उदय होता है। विवेकी पुरुष संसार के क्षुद्र विषयों में रमण नहीं करता। भगवान् ने कहा है :—

ये हि संस्पर्शजा भोग
दुःख योजय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
गीता (५।२२)

जो ये इन्द्रिय और विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले सब भोग हैं वे यद्यपि विषयी पुरुषों को सुखरूप भासते हैं, जो दुःख के ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं; इसलिए हे अर्जुन ! बुद्धिमान्-विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

सत् विचार मनुष्य की सच्ची सम्पदा है। इसे धारण करने से मनुष्य को आध्यात्मिक कर्त्तव्य निश्चित करने में आसानी होती है।

प्रभुमय जीवन

संपूर्ण शांति

श्री श्रीलालजी पंड्या

परमात्मा शांति का अगाध सागर होने से जब हम उसमें ऐक्यगुण का अनुभव करते हैं, अर्थात् तन्मय हो जाते हैं, तब हममें भी उस शांति का प्रवाह बहने लगता है। क्योंकि शांति में तन्मयता सिद्ध हो सकने पर शांति का प्रसार तो होना ही चाहिए। और इस प्रकार शांतिमय अथवा शांत अंतःकरण वाले बनना ही प्रभुमय जीवन अथवा शांति है। इस प्रकार इस प्रभुमयी-वृत्ति का जब हमें अनुभव होने लगे और तदनुसार ही हम अपना जीवन बिताने लगें, तब समझ लेना चाहिए कि, अब हम ऐसे शुद्ध अंतःकरण वाले बन गये हैं, जिसके द्वारा परमात्मा में अधिक से अधिक तन्मयता, चेतना और सुखशांति का अनुभव हो सकेगा।

चारों ओर दृष्टि दौड़ाने पर लाखों स्त्री-पुरुष चिन्ता में डूबे हुए दिखाई देते हैं। वे लोग तन, मन और बाह्यस्थिति से उकता कर शांति पाने के लिए अनेक स्थानों में भटकते हैं; किंतु यदि वे समग्र पृथ्वी पर भी घूम आवें तो भी उनका सारा प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध न होकर सच्ची शांति प्राप्त न हो सकेगी। क्योंकि जहाँ वह वस्तु नहीं है, वहीं वे उसे खोजते हैं। अर्थात् शांति का वास्तविक स्थान तो मनुष्य के हृदय में विशेषरूप से बसा हुआ अंतर्यामी परमात्मा ही है। अतएव उस शांति को अपने अंतर में न खोजते हुए बाहर से प्राप्त करने के लिए कितने ही प्रयत्न किये जायँ और कैसे ही भोग भोगते हुए संसार का कोना कोना छान डाला जाय, तो भी वह हमें क्योंकर प्राप्त हो सकती है ? जहाँ वह है ही नहीं, वहाँ वह मिल कैसे सकेगी। इसके लिए तो मनुष्य जितने परिमाण में अपनी बाह्य इच्छा और वासनाओं को संयम में रख कर अंतर्यामी के आदेशानुसार बरतता है, उतने ही अंश में वह सच्ची शांति और यथार्थ आनन्द को प्राप्त कर सकता है। किन्तु इसके बदले मनुष्य जितने ही अंश में वासनाओं के आदेशानुसार बरतते हैं, उतने ही अंश में वे अधिक रोगी, दुखी और असंतोषी बनते हैं।

ईश्वर के साथ ऐक्य समझने और साधने में ही सच्ची शांति रहती है, जिस प्रकार बालक माता-पिता के साथ स्वाभाविक प्रेम और एक्यता रख कर सुख-शांति में रह सकता है, उसी प्रकार हमारे लिए भी परम पिता के साथ एकता अनुभव कर उसे साधने से ही सुख-शांति सुलभ हो सकती है। जिन जिन मनुष्यों ने उस अनंत शांतिरूप परमात्मा के साथ एक्यता को समझा और अनुभव किया है; उनके जीवन में आनंद उभरा चला है। इस विषय में मुझे अपने एक युवा मित्र का स्मरण होता है। वह अनेक वर्षों तक बीमार रहा था। उसके चेहरे पर से स्वास्थ्य का तेज बिलकुल उड़ गया था, मस्तिष्क निर्बल हो गया था और उसे चारों ओर आनन्द के बदले निराशा के ही दर्शन होते थे। किन्तु बाद में जब वही व्यक्ति सर्वशक्तिमान परमात्मा के साथ एकता अनुभव करने लगा, तो उसके अन्तर में शक्ति और स्वास्थ्य का संचार होने लगा और अब तो वह पूर्ण स्वास्थ्य मय जीवन बिता रहा है। जब कभी वह मित्र मुझे मिल जाता है तब उसके चेहरे से यही भाव

प्रकट होता है, कि "जीवन असार नहीं वरन् जीने या उपभोग करने योग्य है।"

एक पुलिस अधिकारी मेरा मित्र है। वह जब काम पूरा करके संध्या समय अपने घर जाता है, तब उसके मन और शरीर में परमात्मा के साथ एकता की लहर इतने वेग से बहती है कि जिसके कारण उसे यह भी पता नहीं लगता कि वह जमीन पर चल रहा है या कोई शक्ति उसे अम्बर में उड़ा ले जा रही है!

इस प्रकार एकता अनुभव करने वाला सर्वथा सुखी रहता है। और यह दृढ़ विश्वास रहने से कि "परम शक्तिमान परमात्मा मेरा रक्षक है" उसकी निर्भयता भी बढ़ती जाती है। प्रकृति भी उसके अनकूल बन जाती है और हिंसक पशु भी उसके सामने शांत बन जाते हैं। उसे देख कर लोगों को यही प्रतीत होने लगता है मानो उसमें एक प्रकार की वशीकरण शक्ति है।

जब हम भयभीत हो जाते हैं, तब उस भयोत्पादक वस्तु को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए हम अपना हृदय-द्वार खोल देते हैं, क्योंकि भय से ही भयंकर वस्तु हमारी ओर आकर्षित होती है। कुत्ते भी जब मनुष्य को भयभीत देखते हैं तभी काटने का साहस करते हैं। इसलिए परमात्मा में हम जितनी ही एकता अनुभव करेंगे, उतने ही हम शांत और निर्भय रह सकेंगे। और जो छोटी छोटी बातें हमें उत्तेजित कर देती थीं, उनसे हम उत्तेजित न होंगे। साथ ही ऐसे मनुष्य दूसरों के चकमे में भी नहीं आ सकते। क्योंकि वे दूसरों के हेतु और हृदय को सुगमता से समझ सकते हैं।

एक दिन एक सज्जन मेरे एक मित्र को मिले और बाहरी शिष्टाचार दिखाते हुए कहने लगे "आपके दर्शन से आज बड़ा आनंद हुआ है।" किन्तु मेरे मित्र ने बिजली की तरह चपलता से उनके विचारों को जानकर उनकी ओर दृष्टि गड़ाते हुए कहा "आप भूलते हैं, मुझे देख कर आपको आनन्द नहीं हुआ, वरन् आप खिन्न ही हुए हैं। यह बात आपके चेहरे से स्पष्ट प्रकट हो रही है।" इस पर उस व्यक्ति ने भी सरलता से यही उत्तर दिया कि "इस बाह्य शिष्टाचार के जमाने में भीतर से चाहे जैसे भाव हों, किन्तु बाहर से तो प्रसन्नता ही प्रकट करनी पड़ती है। इस पर मेरे मित्र ने फिर उसकी ओर ताकते हुए कहा कि "आप भूल करते हैं। हृदय में एक बात होते हुए भी बोलने में दूसरी बात प्रकट करने की कुटिलता छोड़ कर हृदय की सच्ची बात प्रकट करने पर ही आप सरलता का महत्व समझ सकेंगे और इसी प्रकार के सदाचार से आप विजयी होंगे।

इसी ढंग से हम भी लोगों की मनोवृत्ति को पहचान सकेंगे। उस दशा में हम भी किसी के द्वारा ठगे जाने या निराश होने के अवसरों से बच सकेंगे। इसी प्रकार किसी को ऊँचे आसमान में चढ़ा देने के पाप में भी न पड़ सकेंगे। झूठ बोलने में चाहे जैसी कला से काम लिया जाय, किन्तु वह अधिक देर तक ठहर नहीं सकती। इसी प्रकार परखने की शक्ति के अभाव में हम दूसरों की सीमातीत प्रशंसा करके उसके प्रति सच्ची सज्जनता या मित्रता नहीं दिखाते।

शांति-स्वरूप परमात्मा के साथ अपनी एकता का यदि यथार्थ अनुभव हो जाय, तो फिर किसी मनुष्य-द्वारा हमें हानि पहुँचाई जाने पर भी यह विचार नहीं होने पाता और न वह हमारी शांति को ही भंग कर सकता है। क्योंकि सत्य और न्याय के जो तत्व अखिल विश्व में व्याप्त हो रहे हैं, और अंत में जिनकी विजय होने वाली है, उनके अनुसार ही यदि हम अपना जीवन बिता सकें तो हमारी शांति कभी भंग नहीं हो सकती।

हमें परमात्मा के साथ अपनी सच्ची एकता

का अनुभव हो जाय तो फिर अपने मित्र अथवा स्वजन की मृत्यु या आधि-व्याधि के कारण कभी विकलता नहीं हो सकती। क्योंकि हमको यह पता रहता है कि, मृत्यु किसी व्यक्ति की नहीं वरन् उसके शरीर की ही होती है। और वह मृत कहा जाने वाला पुरुष स्वयं तो उस अनंत चैतन्य का ही एक अंश होने से सदैव के लिए अजर, अमर और जीवन रूप ही होता है। अतः शरीर छूट जाने पर भी उसकी अजर-अमरता को कोई हानि नहीं पहुँच सकती। इसी अटल विश्वास के कारण हम निरंतर शांति में ही निवास करते हैं और अन्य जो निर्बल व्यक्ति इस प्रकार के ज्ञान के अभाव में उद्विग्न होते रहते हैं; उनसे भी हम कह सकते हैं कि :—

"हे प्रेमी मित्र ! सच्चा ज्ञान प्राप्त करो और आँसुओं को पोंछ डालो। क्योंकि तुमने जिस शरीर को विदा किया, वह एक बूँद आँसू के योग्य नहीं था। वह एक ऐसी निकम्मी सीप के समान था जिसमें का मोती निकल गया है, इसलिए उसका चिंतन छोड़ दो। क्योंकि वह आत्मा तो अब भी विद्यमान ही है।"

वियोग के सम्बन्ध में भी यह बात स्मरण रखने जैसी है कि "आत्मा के लिए किसी प्रकार की भी मर्यादा नहीं होती और दो जीवात्माओं के बीच का सम्बन्ध, उन दोनों के शरीर में होने या एक के शरीर में रहने और दूसरे के शरीर-रहित स्थिति में होने पर भी, बराबर कायम रह सकता है। और जिस परिमाण में मनुष्य उच्च दशा का अनुभव करता है, उसी अंश में यह सम्बन्ध बनाये रखने की शक्ति भी जो कि गुप्त थी प्रकट होने लगती है।

हम अपने हृदय के द्वार को जिस वस्तु के लिए खुले रखते हैं, वही वस्तु हमें प्राप्त होती है। प्राचीन काल में लोग ईश्वरीय दूतों-फिरश्तों को देखने की प्रबल इच्छा रखते थे और उन्हें वे देख भी सकते थे। फलतः वे जब उन्हें देख सकते थे तो कोई कारण नहीं कि अब हम उन्हें नहीं देख सकें। क्योंकि सृष्टि के महान नियम उस समय की तरह आज भी समान रूप से प्रवर्तित हो रहे हैं। आजकल ये देवदूत हमारे देखने में नहीं आते, इसका कारण केवल यही है कि हम उन्हें आमंत्रित नहीं करते। अथवा वे जिस द्वार से होकर आ सकते हैं, उसे हम खुला न रख कर बंद कर लेते हैं।

सुख-शांति के अपार सागररूप परमात्मा के साथ जैसे जैसे हमारा सम्बन्ध बढ़ता जाता है, वैसे वैसे हममें सुख-शांति की भी वृद्धि होती जाती है। और जहाँ जहाँ हम जाते हैं, उस सुख-शांति की सुगन्ध को भी साथ ले जाते हैं। अर्थात् जितने परिमाण में परमात्मा के परम सुखदायक चैतन्य को ग्रहण करने के लिए हम अपने हृदय-द्वार को खोलेंगे, उतने ही अंश में सुख-शांति भी हममें अवश्य आकर्षित होगी, और जितने अंश में वह सुख-शांति हम में होगी, उतने ही परिमाण में हम उसे दूसरों को भी दे सकेंगे। और चारों ओर आशीर्वाद का प्रवाह बहा सकेंगे।

शर्माते क्यों हो ?

स्वर्गीय विश्वामित्र वर्मा

संस्कृत में कहा है "लज्जा नारीणां भूषणम्" अर्थात् स्त्रियों को लजीली होना शोभा देता है अन्यथा वह बेशरम होकर बदनाम होती है। परन्तु यदि यह लज्जा उसी रूप में पुरुषों में आ जाय तो क्या कहा जायगा ? "लज्जा नृणां दूषणम्", पुरुषों में लज्जा होना दोष है।

स्त्रियों में लज्जा श्रेय और पुरुषों में हेय है। अस्तु पुरुषों में इस लज्जा, शर्म का उद्‌गम कब और कैसे हुआ ? बच्चों में तीन साल की अवस्था में शर्म का प्रथम प्रवेश अभिभावकों द्वारा कराया जाता है। तीन साल का होने पर बच्चे को संसार और समाज की पहचान आरम्भ होती है। वह सबको वस्त्रभूषित देखता है, और उस स्वयं जन्मजात नग्न प्राणी को वस्त्रभूषित कराया जाता है, और यदा-कदा यदि उसे स्वाभाविक जन्मजात नग्न, वस्त्रहीन दशा में किसी ने देख लिया तो कह बैठते हैं :—

अरे नङ्गा है ? शरम नहीं आती ? कपड़े पहनो। वर्ना तुम्हें बाजार नहीं ले जायेंगे, लोग तुम्हें देख कर क्या कहेंगे ? अरे नंगे होकर बाहर नहीं जाया जाता। यह बुरी बात है। लोग तुम्हें बेशरम कहेंगे। तुमको अच्छा लड़का नहीं कहेंगे।

बस, शर्म के रोग का सभ्यता के रूप में यह प्रथम बीजारोपण संस्कार होता है। फिर बच्चा स्वयं इस भय से कभी नङ्गा नहीं रहता।

फिर क्रमशः यौवन के आरम्भ में जब उसके शरीर में, वाणी में, मन में उल्लास में —परिवर्तन होता है, जीवन के दूसरे चरण में प्रवेश करता है तब शर्म की भी दूसरी भूमिका बन जाती है। और उसी शर्म की भावना के कारण वह अपने इस बदले हुए नवीन व्यक्तित्व को नहीं खोल सकता, आवश्यकता पड़ने पर भी।

शर्म कोई परमात्मा का बनाया हुआ आवश्यक विधान होता तो सब प्राणियों में होता। मनुष्य जब वस्त्र नहीं पहनता था, जब वस्त्र नहीं था तब क्या रिवाज था ? अब भी संसार के बहुत से सुदूर वन्य प्रदेशों में कपड़ा और यह शर्म की सभ्यता नहीं पहुँची है। सब लोग स्वाभाविक नग्न, वस्त्रहीन रहते हैं। कपड़े का आविष्कार सर्दी गर्मी से शरीर की रक्षा करने तथा आभूषण के रूप में, आवश्यकता और सौन्दर्य भावना से हुआ है, परन्तु धर्म और सभ्यता के नाम पर अब कपड़े से मनुष्य ने अपनी प्रकृति पर ऐसा आवरण डाल लिया है कि उसे स्वयं खोलने में डर लगता है। यह शर्म, व्यक्तित्व का दोष है, संस्कार डालकर बनाया हुआ व्यापक मानसिक रोग है। रोग होने पर इलाज के लिए भी कपड़ा खोलने में शर्माते हैं। बर्मा में एक व्यक्ति ने अपने शरीर पर सर्वत्र चमड़ा सिलवा लिया था कि मेरे शरीर को कोई देख न सके।

हरेक दशा और अवस्था में, हरेक श्रेणी के व्यक्ति में शर्म के अनेक रूप होते हैं। जिनके पास कपड़े नहीं हैं, अथवा अच्छे कपड़े नहीं हैं, प्रौढ़ अवस्था में भी पहुँचकर उसी बचपन की भावना के कारण, वे बड़े लोगों के सामने जाने में शर्माते हैं, बाहर निकलने में शर्माते हैं, सार्वजनिक रूप में आने से, भाषण देने में या खेल-कूद तमाशा देखने सामाजिक समारोह में जाने से शर्माते हैं, आज के युग में कपड़ों से ही मनुष्य का मूल्य है, उसके व्यक्तित्व का मूल्य है। कपड़े के बिना, शर्म के कारण मनुष्य में इस प्रकार

आत्महीनता की भावना का उद्गम होता है।

किन्हीं लोगों को अच्छे चमकीले कपड़ों में किसी विशेष अवसर पर सार्वजनिक प्रदर्शन के लिए निकाला जाता है तब उन्हें शर्म आती है। और कुछ लोग शर्मीले होने के कारण, विद्वान् और अच्छे लोकप्रिय व्यक्ति होने पर भी घर के बाहर नहीं निकलते, आत्माभिमान का रूप देकर, गम्भीरता धारण किये, वे घर में, एकान्त में घुसे रहते हैं, सार्वजनिक रूप में बाहर नहीं आते, उन्हें अपनी किसी 'कमी' का ध्यान रहता है जिससे वे बाहर आने में, बाहर सबके समक्ष बोलने में, बाजार में खुले दिल पसंद का सौदा करने में शर्माते हैं, डरते हैं कि मैं ऐसी बात कहूँगा, अमुक कार्य करूँगा, बनठन कर निकलूँगा तो लोग क्या कहेंगे!

यद्यपि संसार में सब लोग सभी प्राकृतिक आवश्यक व्यवहार करते हैं, और सब को करना चाहिए, शर्मीला व्यक्ति स्वाभाविक आवश्यकता जानते हुए भी, मल मूत्र त्याग की बात भी नहीं कहता। और समाज के बीच उसे आवश्यकता पड़ने पर बड़ी ही कठिनाई और तकलीफ होती है। यह स्मरण रहे कि बचपन में पाये हुए संस्कार आदेशों से ही इन सब कठिनाइयों और रोगों का बीजांकुर उगता हुआ, आगे की अवस्था में २०, ३०, ४०, ५० और ६० वर्ष तक तथा मरते दम तक लोगों में बना रहता है।

इसके अतिरिक्त दूसरों की अपेक्षा अपने में कोई विशेषता या न्यूनता होने से भी शर्म आती है। मेरी नाक लम्बी है, मेरे कान बड़े हैं, मैं दुबला पतला हूँ, मैं बौना हूँ, मैं बहुत मीठा हूँ, मेरे दाँत बाहर निकले हुए हैं, पाँव पतले हैं, इत्यादि के कारण भी शर्म से हीनता की भावना हो जाती है। और इस कारण, जीवन के उच्चतम अनुभव, दाम्पत्य योग से भी वे पीछे हटते हैं। शर्म से मनुष्य का हृदय, मन और जीवन संकुचित और निरर्थक हो जाता है। अपनी उच्च आकांक्षा या कल्पना भी दबी रहती हैं।

शर्म संकोच—जीवन को व्यर्थ बनाने वाला घातक रोग है।

यदि आपको यह रोग है तो इसकी कुंजी भी आप ही के पास है। मत सोचिए कि मैं ऐसा कहूँगा या करूंगा तो लोग मुझे क्या कहेंगे? यह डरपोकपन छोड़ दो। संसार में सब लोग अपने अपने स्वभाव के अनुसार ही बर्तते हैं, अस्वाभाविक कोई नहीं। फिर आप अपनी स्वाभाविकता को प्रकट करने में क्यों शर्माते या डरते हैं? यह कोई पाप नहीं, वरन् इसे दबाना, छिपाना और अपने आपको कष्ट देना, अपने जीवन को संकुचित बनाना पाप है। मनुष्यों में जो स्वाभाविकता है वही आप में भी है, और वह सब विधाता की बनाई हुई है अपनी बनाई हुई नहीं, फिर आत्म प्रदर्शन में शर्म, संकोच, डर, भय, संकीर्णता क्यों?

स्वाभाविक बनो। जैसे तुम हो, जैसा तुमको भगवान ने बनाया है, वैसा ही अपने आपको प्रकट करो। अपने आपको प्रकट न करना ही सबसे बड़ा पाप है।

स्वरूप-स्थिति के उपाय

अनु०—श्री गोपीवल्लभ उपाध्याय

मन मध्य भाग में है। इसके एक ओर शरीर है और दूसरी ओर आत्मा। मन का अपना कोई आकार या स्वरूप है ही नहीं। जब यह शरीर के साथ मिल जाता है, तब मन कहलाता है और जब आत्मा के साथ मिल जाता है तब तो यह आत्मारूप है ही। अतः मन जब स्वरूप-चिंतन करता है कि "मैं कौन हूँ?" और इस प्रश्न के उत्तर में जब वह जिस भाव में लीन हो जाता है, तब वह उस भाव रूप में ही होता है।

मन को बारंबार स्वरूप के साथ लीन करते रहने से उसका जोर कम हो जाता है और उसकी शरीर के साथ मिल जाने की आदत छूट जाती है। यही श्रेष्ठ मानसिक विकास है। मन का मन के रूप में (संसार के संकल्प-विकल्प रूप में) न रह जाना ही मन का सर्वश्रेष्ठ विकास है।

पानी के साथ भी मन की तुलना की जा सकती है। बरफ, पानी और भाफ ये तीनों ही एक तत्व माने जाते हैं, किन्तु फिर भी तीना के काम अलग-अलग हैं। एक के स्थान पर दूसरा काम नहीं दे सकता। मन भी पानी के ही जैसा है। यदि पानी को गर्मी पहुँचाई जाय तो वह भाफ बन जाता है और सदा पहुँचाई जाय तो वह बरफ का रूप धारण कर लेता है। उसी प्रकार यदि मन को "आत्मा" होने की भावना पर दृढ़ किया जाय तो वह "आत्मा" रूप बन जायगा और यदि शरीर होने की भावना प्रदान की जायगी तो वह शरीर बन जायगा। और इसके साथ के सम्बन्धों को सत्य मानने लगेगा। अतएव मन को किस प्रकार का रूप प्रदान किया जाय, यह हमारी विवेक-बुद्धि के ही हाथ की बात है।

हमें जन्म से ही शरीर के साथ मिल जाने की आदत पड़ गई है, अतएव आत्मा के साथ मिलते हुए उसे देर लगती है। किन्तु जब वह आत्मा के साथ मिलने लगेगा तो शरीर के साथ मिलने में कष्ट अनुभव होगा और इसी का नाम वैराग्य है।

छोटी से छोटी भूल की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। यह तामस का चिन्ह है। क्योंकि जब छोटी छोटी भूलों की उपेक्षा करने की आदत हो जाती है, तो बड़ी बड़ी भूलों की ओर भी उपेक्षा का ही भाव बढ़ने लगता है। फिर तो छोटी मोटी भूलें, भूल ही नहीं जान पड़ेंगी। आदत पड़ जायगी। प्रकृति इसी का नाम है। अतएव प्रकृति या आदत को बदलना बड़ा ही कठिन काम हो जाता है। अर्थात् आरंभ तो छोटी से छोटी भूल को जड़ से पकड़ने के रूप में ही होनी चाहिए।

सभी लोग शक्ति पूजक हैं। अतः जब तक शारीरिक, मानसिक या आध्यात्मिक शक्ति की ओर लोग ध्यान देंगे, और उसका उपयोग होता देखेंगे, तभी तक तुम्हारी पूछ होगी। किन्तु जिस दिन तुम्हारी निरुपयोगिता देखेंगे, उसी दिन तुम्हें एक कोने में डाल देंगे। इस प्रकार व्यवहार में अनेक उदाहरण देखने में आते हैं।

मन को कभी शांति प्राप्त नहीं हो सकती। क्योंकि मन ही तो जगत् है, अतः जब स्वयं अपने आपको शांति-रूप में भान करोगे, तभी शांति प्राप्त होगी। जब तक इस प्रकार का भान नहीं होता, तभी तक मन में यह उथल-पुथल होती रहेगी। किंतु पूर्ण अशांति होने या मन के विह्वल हो जाने एवं चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दिखाई देने पर भी तुम तो जैसे थे वैसे ही हो। तुम्हारा तो वही अनंत तत्वरूप

है। तुम उस समग्र दौड़-धूप को जानते हो और वही तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है।

जब मैं भी नहीं था और तुम भी नहीं थे, और यह जगत् भी नहीं था, तब जो तत्व था उसे परमात्मा कहें या परब्रह्म या ईश्वर! जो भी इच्छा हो कह सकते हो। क्योंकि कुछ न कुछ होने पर ही उसमें से कुछ पैदा हो सकता है। अर्थात् जब कुछ भी नहीं होता तो उसमें से उत्पन्न ही क्या होगा? जिस प्रकार कि कोई महासागर हो और वह शांत भी हो, गंभीर भी हो और उसमें एकदम कोई लहर उठ खड़ी हो, उसी प्रकार तुम, हम या अन्य समस्त प्राणी उस चैतन्यरूपी महासागर की लहरों के समान हैं। कोई लहर बड़ी होती है और कोई छोटी, किन्तु हैं सभी लहरें ही।

उत्पत्ति होने का आशय किसी नवीनता का प्रकट होना नहीं है, वरन् जो कुछ था, वही बाहर आ गया है। जैसे कि महासागर में लहर का उठना कोई नई बात नहीं, क्योंकि उसमें भी पानी के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार लहर का शांत हो जाना भी—अपने आपके शांत जल रूप में भान होने का नाम ही मुक्ति है। जिस प्रकार समुद्र में लहर उठती है, उसी प्रकार चैतन्यरूपी सागर में हम भी हैं। अर्थात् लहर जीवभाव है और समुद्र ईश्वर भाव; तथा पानी ब्रह्मभाव है। ये सब एक ही तत्व के विविध भाव हैं। लहर बड़ी हो या छोटी, किन्तु अन्त में वह जलरूप ही है। जल कोई नये सिरे से होने वाला नहीं था। ठीक उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म ही है, उसे ब्रह्मरूप में होना नहीं है। जब लहर को यह भान होता है कि मैं जल हूँ, तब भी वह जलरूप ही है। जिस प्रकार लहर कह सकती है कि मैं जल हूँ और समुद्र भी कह सकता है कि मैं जल हूँ। किंतु लहर नहीं कह सकती कि मैं समुद्र हूँ, और उसी प्रकार समुद्र भी अपने आपको लहर नहीं कह सकता। फिर भी दोनों जल तो हैं ही। ठीक ऐसा ही ईश्वर अपने को जीव नहीं कह सकता और न जीव ही अपने को ईश्वर कह सकता है। फिर भी दोनों अपने को ब्रह्म रूप तो कह ही सकते हैं। क्योंकि दोनों ब्रह्मरूप तो हैं ही। किन्तु जीव ईश्वर नहीं हो सकता, जैसे कि लहर यदि प्रयत्न भी करे तो वह समुद्र रूप नहीं हो सकती। अतः जीव को ईश्वर बनाने की प्रवृत्ति व्यर्थ है। जीव ब्रह्मरूप तो है ही, इस बात का स्मरण रहना ही अज्ञान है। और इसका कारण अविद्या है। व्यक्ति का अज्ञान ही अविद्या है। ईश्वर की शक्ति ही माया अथवा विद्या है। अविद्या में पड़ा हुआ चैतन्य का प्रतिबिम्ब ही जीवभाव है और माया में पड़ा हुआ चैतन्य का प्रतिबिम्ब ही ईश्वरभाव है। किन्तु जिस प्रकार जीवन के साथ अविद्या लगी हुई है, वैसे ईश्वर के साथ माया लगी हुई नहीं। क्योंकि ईश्वर तो माया के स्वामी हैं। अतः जब जीव में से अविद्या और ईश्वर में से माया निकल जाती है, तब तो दोनों ही एक रूप रह जाते हैं। अतः जब तक जीवभाव रहेगा, तब तक ईश्वर भाव भी रहेगा ही।

इस प्रकार जब तक हम अपने आपको परिमित या अमुक जाति में ही रहने वाला मानेंगे तब तक दूसरे को अपने से महान् एवं अपरिमित शक्ति वाला मानना ही पड़ेगा। अतः जब मैं अपने आप (मैं) को उड़ा देता हूँ तब वह अपरिमित शक्तिवाला भी हट जाता है और उस समय जो शेष रहता है, उसके स्वरूप का वर्णन नहीं किया जा सकता।

प्रत्येक वस्तु में पाँच भाव रहते हैं। अस्ति, भाति, प्रिय, नाम और रूप। इनमें तब तक अस्ति, भाति और प्रिय (अस्ति=है, भाति= प्रतीत होता है, प्रिय=प्रिय जान पड़ता है) की प्रतीति होती है-तब तक आनंद भी प्राप्त होता है और यह सब में सामान्य रूप से ही होते हैं, किन्तु नाम और रूप सब के अलग-अलग ही होते हैं। अतः यदि हम इनमें से

नाम-रूप को निकाल लें तो अस्ति, भाति और प्रिय तो सर्वत्र सब में विद्यमान ही हैं, और यही हम सब का स्वरूप है।

अतएव अपने नामरूप के ही साथ साथ समग्र जगत् के नामरूप को मिटा देना ही सीखने की आवश्यकता है। इस प्रकार की प्रतीति करते रहना ही श्रेष्ठयोग है। क्योंकि ऐसा करते रहने से शेष अस्ति, भाति और प्रिय ही रहेंगे और इस प्रकार सच्ची स्थिति प्राप्त हो सकेगी।

हमसे यदि कोई पूछे कि जगत् कितना बड़ा है? तो हम तत्काल ही उत्तर देंगे कि—"साढ़े पाँच फुट का।" किन्तु यदि साढ़े पाँच फुट को ही भूल जायें तो सारा जगत् ही उड़ जाता है। और यह सब के अनुभव की बात है कि जब हम गाढ़ निद्रा में होते हैं, तब अहंभाव नहीं रहता, देहभाव भी नहीं रहता। अतएव उस दशा में कुछ भी दुःख नहीं होता। उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में भी यदि साढ़े पाँच फुट वाले देह में से अहंभाव को निकाल दें तो दुःख शोक कैसे रह सकते हैं? क्योंकि देहभाव दूर होने पर एक ऐसा अनुभव होगा कि जिससे अपूर्व स्फूर्ति जाग्रत हो उठेगी। स्फूर्ति, आनंद, उत्साह आदि सभी आत्मा के स्वभाव हैं। अतः देह भाव को दूर करने के लिए इस भावना को दृढ़ करने की आवश्यकता है कि "मैं आत्मा हूँ।" इस भाव के दृढ़ होने पर तो इस प्रकार की स्थिति प्राप्त होकर दृढ़ हो ही जायगी। और यही स्थिति सुखमय अवस्था है—शांत एवं आनन्दमयी स्थिति है।

यदि कोई पूछे कि धर्म क्या है? तो उत्तर में यही कहना होगा कि—पवित्र वृत्ति से किया हुआ कर्म ही धर्म है। करने योग्य वस्तुएँ दो ही हैं—(१) अपने से समग्र ब्रह्माण्ड को अभिन्न देखना। (२) अपने को सबसे अलग देखना। जिस प्रकार मल का त्याग कर देने के बाद हम उसका विचार नहीं करते कि उसका क्या हुआ और वह कहाँ गया? उसी प्रकार शरीर, मन आदि का भी विचार त्याग देना चाहिए। अर्थात् इनका तो आत्यन्तिक लय करना ही उचित है। क्योंकि ये विचार के योग्य ही नहीं हैं। विचार के योग्य तो यही है कि "मैं आत्मा या परब्रह्म हूँ।" तुम अन्य कुछ भी नहीं हो। दूसरे बनोगे तो दुखी होगे!"

"तुम संकल्प-विकल्प रहित, शांत और अद्वितीय हो।" यह विचार दृढ़ होते ही 'मन' 'अमन' (बेमन) हो जाना अनिवार्य है। उस समय मन नहीं रह जायगा, जो कुछ रहेगा वही द्रष्टा, साक्षी, आत्मा या परमात्मा होगा और वही हमारा मूल स्वरूप है। अतएव इस भावना में जितनी ही अधिक स्थिति रह सके, उसे दृढ़ बनाना उचित है।

आत्मस्थ हो जाने पर कारण और कार्य दोनों ही अदृश्य हो जाते हैं। उसी दशा में निर्बलता या सफलता का यथार्थ अनुभव हो सकेगा। प्रसन्नचित्त से विवेक बुद्धि का विकास होता है। किन्तु प्रसन्नचित्त वाली अवस्था आसक्ति रहित काम करने से, अर्थात् काम या इच्छामात्र में अनासक्त रहने से प्राप्त हो सकेगी। और काम या इच्छा के प्रति अनासक्ति प्राप्त करने का सरल मार्ग है आत्मज्ञान!'

सदैव जाग्रत रहने वाला आत्मस्थ रह सकता है।

देहभाव से अपने को शून्य समझो। अहङ्कार को यहाँ तक मिटा दो कि स्वयं शून्य अनुभव कर सको। अथवा अपने को इतना बड़ा या महान् समझ लो कि देहदृष्टि ही न रहे। पूर्ण और शून्य दोनों ही पारमार्थिक दृष्टि से एक ही हैं। जिस प्रकार बर्तन को यदि नित्य साफ नहीं किया जाय तो उसपर जङ्ग लग जाता है; उसी प्रकार यदि मन को नित्य ही आत्मस्थ न किया जाय तो मन की आसक्ति बढ़ती जाती है। अतएव उतनी ही प्रगति (गमन-मार्ग) दूर

होती जाती है। क्योंकि आसक्ति के कारण ही कामना उत्पन्न होती है और मन पर जङ्ग (कीट) चढ़ने लगती है। उस जङ्ग को धोने या दूर करने की क्रिया ही उपासना, योग अथवा भक्ति है। ये क्रियाएँ आजन्म चलती रहना चाहिए। प्रतिक्षण सावधान रहना चाहिए। अहंभाव काले सर्प के समान है। वह कब घुस पड़ेगा, कोई निश्चय नहीं!

भक्तिमार्ग की विधि से मन को वश में करने का सरल मार्ग यह है कि उसे (इन्द्रियों को) प्रभुपरायण कर दो। अर्थात् प्रभु को अर्पण करके ही खाओ, प्रभु को ही देखो और प्रभु को ही स्पर्श करो। समस्त इन्द्रियों के व्यवहार में प्रभुत्व को देखो। प्रयत्न द्वारा ऐसी आदत पड़ जायगी। इस प्रकार प्रत्येक कार्य को प्रभु का ही मानो। प्रभु की इच्छा के साथ एकरूप हो जाओ। काम हो जाय तो ठीक और न हो सके तो भी कोई चिन्ता नहीं।

अहं और मय अर्थात् मैं और मेरा का भाव उत्पन्न होते ही जगत् उत्पन्न हो जाता है। निद्रा में अहं या मय न होने से ही जगत् नहीं रहता। अहं या मैं-पन निकालते ही मन तो अपने आप मिट जायगा। "मैं आत्मा हूँ" यह भाव दृढ़ होते ही शरीर का अहंभाव क्षीण होने लगता है। अंतःकरण धीरे-धीरे आत्माकार होने लगता है। आत्माकार अंतःकरण ही शुद्ध अन्तःकरण है। शुद्ध अंतःकरण ही, संकल्प शून्य अंतःकरण ही, केवल ब्रह्म या आत्मा-रूप है। अहंभाव को किसी न किसी स्थान पर तो टिकाना ही होगा। अर्थात् "मैं आत्मा हूँ।" इस प्रकार आत्मा में अहंभाव होते ही शरीर पर से वह अनायास हट जायगा। इस प्रकार के अभ्यास से वह अवश्य दूर हो जायगा।

किसी को भी अपना पुत्र अप्रिय नहीं होता। पुत्र के सभी अवगुणों को छिपाकर उसको कुरूप होने पर भी स्नेह की ही दृष्टि से देखते है। उसी प्रकार सर्वत्र ईश्वर-दर्शन करने वाला मनुष्य अपने प्रेम-प्रवाह को यहाँ तक बढ़ा देता है कि उसे समाज की कुरूपता या उसके अवगुण दिखाई तक नहीं देते। और यदि कभी दिखाई भी देते हैं तो वह अपने प्रेम-दर्शन के कारण उसके प्रति क्षमावृत्ति ही धारण कर लेता है। क्योंकि सभी प्रभु की संतान हैं अतः हमारा कर्त्तव्य तो सबके प्रति प्रेमभाव रखना ही हो सकता है।

"मैं प्रेमस्वरूप हूँ, सच्चिदानंदस्वरूप हूँ" इस प्रकार का विचार दृढ़ होते ही मन आत्ममय हो जाता है। क्योंकि अपने आत्ममय होने का चिन्तन, मनन ही मन को आत्माकार बना देता है। अर्थात् मन का अपना कोई आकार ही नहीं होता। वह तो जैसा चिन्तन करता है वैसा ही बन जाता है। वैसे ही आत्मा का भी कोई आकार नहीं होता, और इसीलिए उसका चिन्तन भी नहीं हो सकता। किन्तु फिर भी एकभाव ऐसा है, कि जो मन और वाणी से परे होते हुए भी अनुभव किया जाता है। अर्थात् मन का व्यवहार बन्द होने के बाद जो भाव आरंभ होता है—वही आत्म-भाव है।

ज्ञानी हो या अज्ञान, सभी को देह पर तो थोड़ा बहुत अहंभाव रहेगा ही। देह के दुःखों का दोनों को ही अनुभव भी होगा। ज्ञानी यदि संकल्प-विकल्प करके दुखी नहीं होता, तो अज्ञानी विचारों की परंपरा से ही परेशान होता रहता है। अतः कोई भी काम करो, उसे आनन्दपूर्वक एवं एकाग्रचित्त से करो, समता से करो। अर्धदग्ध मन या अशांतचित्त से मत करो। पूर्ण समता रख कर काम करने से आसक्ति नहीं होती।

मन के साथ बाँध-छोड़ (ग्रहण-त्याग) की वृत्ति को त्याग दो। मन की चंचलता को जरा भी प्रोत्साहन मत दो। उपेक्षा या काम चकाने की वृत्ति से ही मन उन्मत्त हो जाता है। झूठे लाड़ लड़ाने से, फिर इसे वश में लाना कठिन हो जाता है। अतएव प्रतिदिन के काम का

हिसाब रखो और उसमें ढिलाई मत आने दो। प्रतिदिन रात्रि में दिन भर की भूलों का पता लगा कर अगले दिन फिर वैसी भूलें न होने देने के लिए दृढ़ निश्चय करो। सवेरे उस निश्चय को ताजा करो। आज फिर से वैसी भूल न होने पावे, इस प्रकार का दृढ़ संकल्प करो। दृढ़ता से काम लेने से मन शीघ्रता के साथ पलट सकता है, भाई-दादा करने से वह नहीं मानता।

कितने ही स्त्री-पुरुषों को अध्यात्म ज्ञान में जैसे जैसे वे आगे बढ़ते हैं, वैसे वैसे घबराहट होने लगती है। इसका कारण केवल यही है कि इसके पहले वाले वर्षों में उन्होंने संयम का पालन नहीं किया। यम-नियम में शिथिलता रखने से ही ऐसा होता है और इन सब कारणों से अंतःकरण में अशुद्धि आ जाना भी हेतु रूप होता है। अतः जैसे जैसे आत्मविचार बढ़ते जायँगे, वैसे वैसे यह अशुद्धि कम होती जायगी। अतः यदि प्रारम्भ में घबराहट जान पड़े तो यही समझना चाहिए कि आध्यात्मिक विचारों के कारण ऐसा होता है। यत् किंचित् आध्यात्मिक विचार भी मन को उच्चगामी बनाने में सहायक हो सकता है। अध्यात्म विचार का आशय शरीर, मन और वाणी से परे की अवस्था में एकरूप हो जाना ही है। उस समय जो सत् चित् एवं आनंद रूप अनुभव किया जाता है, वही अपना स्वरूप है।

शत्रु अपना अधिकार सहज भाव से कभी नहीं छोड़ता। इतने दिनों तक हमने इन्द्रियों को स्वच्छन्द विचरने दिया है, और मन को भी चाहे जैसे विचार करने दिया, इसी कारण यह मिथ्या-स्थिति उत्पन्न हो गई है। अतएव मन और इन्द्रियों को नई आदत डालने की आवश्यकता है। अतएव विषय और विकार दूर करना है, किन्तु यह मन और इन्द्रियों को कैसे अच्छा लग सकता है। इसीलिए घबराहट होती है। चैन नहीं पड़ती। किन्तु इससे घबराने की आवश्यकता नहीं। यदि प्रयत्न जारी रखा जाय तो सब कुछ शांत हो सकता है। और फिर तो इन्द्रियों के दास बनते हुए भी घबराहट होगी। नाम मात्र के लिए बुरे विचारों का प्रवेश होते ही घबराहट होने लगेगी। सारांश, यम-नियम में जरा भी दोष का प्रवेश होते ही विकलता की सीमा ही नहीं रहेगी। किन्तु धीरे-धीरे ऐसी स्थिति भी समझ में आ सकेगी और उसे नियम में लाने के पश्चात् सर्वत्र एक आत्मा के दर्शन का अनुभव होगा।

जब ध्यान और विचार में बैठते हैं, तब संकल्प-विकल्प का जोर-बल बढ़ता जाता प्रतीत होता है। किसी प्रकार भी संकल्प का वेग रुकता नहीं। एक तो दबाने पर दूसरा उठ खड़ा होता है। किन्तु ऐसा होने पर संकल्प-विकल्पों को दबाने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि दबाने से वे अधिकाधिक जोरों से उठने लगते हैं। मैं तो संकल्प-विकल्प का द्रष्टा हूँ। मुझमें ये उठते रहते हैं। ये विचार भी उस समय सहायभूत नहीं होते। अतएव उस समय यह विचार करना चाहिए कि "संकल्प-विकल्प मुझसे भिन्न नहीं हैं। जिस प्रकार सचराचर समुद्र में उठती हुई लहरें उससे भिन्न नहीं हो सकतीं। फिर भले ही वे लहरें कितनी ही बड़ी क्यों न हों! उसी प्रकार संकल्प-विकल्प भी मुझ चैतन्य का फुलावा मात्र ही है। चैतन्य सागर की एक लहर मात्र ही है। सो वह भले ही उठती रहे। इस प्रकार का भाव दृढ़ होने पर संकल्प-विकल्प का वेग स्वयं शांत होने लगेगा। और चैतन्ययुक्त शांति—ब्रह्मानन्द की मात्रा बढ़ती जायगी। सारांश, समुद्र में उठने वाली लहरें जिस प्रकार जल से भिन्न नहीं होतीं, उसी प्रकार मेरे मन में उठे हुए संकल्प मेरे आत्मस्वरूप से भिन्न नहीं। इस प्रकार विचार करने से तुरंत शांति प्राप्त होगी।

कैंसर से रक्षा के उपाय

डॉक्टर विनय मोहन जी शर्मा

कैंसर आज सारे सभ्य देशों में घातक रोग बन गया है। उसके कई कारण हैं। सिगरेट का अत्यधिक सेवन। तंबाकू चबाना भी सिगरेट के समान ही हानिकारक है। अलम्यूनियम के पात्रों में भोजन तैयार करवाना आदि आदि।

हमारा शरीर अनेक कोषाणुओं से निर्मित है। कोषाणुओं का प्रतिक्षण क्षय और निर्माण होता रहता है। जब तक इनके क्षय और निर्माण का अनुपात ठीक रहता है, कैंसर की उत्पत्ति नहीं हो पाती, पर ज्यों ही उसमें विकृति आने लगती है, अंग विशेष के कोषाणुओं की वृद्धि होने लगती है, जो गाँठ आदि का रूप धारण कर घातक बन जाती है।

अमेरिका, ब्रिटेन, रूस आदि देशों के इस घातक रोग की चिकित्सा के लिए अनेक औषधियों की परीक्षाएँ हो रही हैं, पर अभी तक कोई रामबाण सिद्ध नहीं हुई। चीर-फाड़ या रेडियम किरण से ही कुछ स्थिति में रोगी को कुछ समय तक जीवित प्रयत्न मात्र किया जाता है। प्राकृतिक-चिकित्सा के आचार्यों ने भी इस रोग से मुक्ति पाने की दिशा में प्रयोग किये हैं। उन्होंने रोगी को केवल अंगूर और अंगूर रस पर रख कर इससे मुक्ति पाने का दावा किया है।

'Grape cure' (अंगूर-चिकित्सा) नामक पुस्तक में इस पर विशेष प्रकाश डाला गया है। नोबल पुरस्कार विजेता एलेकिस केरेल का मत है कि जब तक हम अपने वर्तमान-जीवन क्रम के आहार-विहार को नहीं बदलेंगे, हमें रोग से मुक्ति मिलना कठिन है। हम प्रतिक्षण विषयाक्त वातावरण में साँस लेते रहते हैं। बनावटी भोजन करते हैं। अपने नाड़ी संस्थान को उत्तेजित करते रहते हैं। परिणाम जीवन-शक्ति का क्षय होता है और यही कैंसर जैसे भयानक रोगों को आमंत्रण देता है!

लीड्स के डॉक्टर होलमेन का कथन है कि यदि हम अपने आहार में ताजे फल, शाक आदि का परिमाण बढ़ा दें और लहसुन का प्रयोग करने लगें तो 'कैंसर' से रक्षा हो सकती है। लहसुन भी रोग प्रतिरोधक शक्ति प्रसिद्ध है।

स्वामी सत्यदेव ने 'लहसुन बादशाह' नामक एक पुस्तक लिखी है। उसमें लहसुन से दीर्घायु बढ़ाने के उपाय बतलाए गये हैं। रक्त-चाप की वृद्धि में महात्मा गांधी जी लहसुन को लाभकारी मानते थे।

यदि हम अपने भोजन में प्रतिदिन एक-दो लहसुन की कुली की चटनी सम्मिलित कर सकें तो अनेक रोगों से हमारी रक्षा हो सकती है।

जिनके शरीर में बल हो वे योग की कतिपय क्रियाओं को किसी योग्य अभ्यासी से मिलकर जल-नेति, शंख प्रक्षालन आदि क्रियाओं से अपने शरीर को विष-मुक्त कर सकते हैं।

शरीर जितना ही विजातीय पदार्थों से मुक्त होगा, उसकी जीवन शक्ति बढ़ेगी। योग की क्रियाएँ अधकच्चे गुरु से नहीं सीखना चाहिए।

जिन्हें रक्त-चाप की शिकायत हो, उन्हें कुंजर (कुंजल) क्रिया नहीं करनी चाहिए। नमकीन कुंजल क्रिया में कुनकुने पानी को शीघ्रता से पीकर वमन द्वारा निकालना होता है। वमन के उपरांत पित्त-कफ के निकल जाने के कारण हल्का मन अनुभव होता है। पर इस क्रिया को भी प्रतिदिन नहीं करना चाहिए। आवश्यकतानुसार जब पित्त या कफ का प्रकोप हो तभी करना चाहिए। जिस रोज यह क्रिया की जाय, उस रोज खट्टी,

चरपरी चीजें न खाई जायँ। यों भी ये पदार्थ स्वास्थ्यवर्द्धक नहीं हैं। दैनिक भोजन से इनका बहिष्कार ही उचित है।

हठयोग की क्रियाओं, आसनों आदि का उद्देश्य ही शरीर को विजातीय प्रकों से मुक्त कर उसके अंगों को स्वस्थ, संतुलित रखना है। यदि हम स्वस्थ अवस्था में ही उसके कुछ आसन तथा प्राणायाम अपना लें तो किसी भयंकर बीमारी के आक्रमण से सहज अपनी रक्षा कर सकते हैं। यदि अनाकुता के कारण आसन या कोई क्रिया साधित नहीं हो सकती तो प्रातः भ्रमण का आश्रय किया जा सकता है। नियमित दो मील का भ्रमण शरीर को स्वस्थ रखने के लिए पर्याप्त है। इसके अतिरिक्त आहार-व्यवहार में "अति" का सदा 'वर्जन' करना चाहिए।

इन्फ्लुएञ्जा

(१)

डॉक्टर रामनारायण जी दुबे

इन्फ्लुएञ्जा (श्लेष्मक ज्वर) एक ऐसा रोग है जिसमें ज्वर, शारीरिक-क्षीणता, श्वास-नलिका में विकार उत्पन्न होते हैं।

वैज्ञानिक लोग इन्फ्लुएञ्जा के होने का विशेष कारण अनेक प्रकार के जीवाणु हैं, इसका प्रसार बहुत तीव्रता के साथ होता है।

परन्तु लोग भूल जाते हैं कि प्रकृति माता की गोद में जन्म लेकर, प्रकृति के प्रतिकूल व्यवहार करने के दुष्परिणाम स्वरूप नाना प्रकार के रोगों (हैजा, चेचक, प्लेग तथा इन्फ्लुएञ्जा) के प्रकोप होते हैं जो सबके सब शरीरान्तर्गत रक्त-भंडार तथा शरीर के प्राण-धारक प्रधान एवं प्रमुख यन्त्र हृदय को स्वाभाविक स्थिति में नहीं रहने देते।

इसके कारण क्या? प्रकृति की प्रतिकूलता जिससे प्रकृति प्रकुपित होकर दंड देती है।

प्रकृति की प्रतिकूलता में बनावटी आहार, बनावटी पेय-पदार्थ, समस्त निरोधक औषधियाँ (टीका, इंजेक्शन आदि) तथा असंयम आदि हैं।

विशेषकर सरकारी गेहूँ जो निःसत्व होने से शारीरिक-शक्ति का ह्रास किया है, वर्त्तमान रोगों के प्रकोप का विशेष कारण बन रहा है।

एटम बम के परीक्षण ने भी प्रकृति तथा नक्षत्रों में महान् विषमता उत्पन्न कर रक्खा है जिससे भीषण गर्मी की लू-लपट तथा मानसून का अभाव अब तक बना हुआ है।

परिणामतः शरीरान्तर्गत विष-विकार उफान खाकर, शरीर में एक साथ ही ज्वर, श्लेष्मा, क्षीणता तथा वेदना आदि उपद्रव उत्पन्न होकर इन्फ्लुएञ्जा की चपेट में लोग आ रहे हैं।

इन्फ्लुएञ्जा का प्रभाव हृदय के ऊपर होने से तथा हृदय की क्षीणता के कारण विह्वलता, उद्विग्नता बहुत बढ़ जाती है जिसमें भय की भावना भर जाने से आनन-फानन में मृत्यु हो जाने की सम्भावना रहती है।

अतएव रोग से प्रपीड़ित प्राणी का परम कर्तव्य है कि वह अपने को भगवान् की शरणागति में सौंप दे तथा "राम नाम के जप में" तल्लीन हो जाय जिससे जादू के ऐसा प्रभाव

पढ़कर, भय का भूत भाग जायगा जिससे मृत्यु पर विजय प्राप्त होना निश्चयात्मक है।

दूसरे प्रकृति की अनुकूलता (उपवास, जलाभिसिञ्चन, मलोत्सर्ग तथा अमृतमय फलों के रस अभाव में शाक-सब्जियों के कच्चे रस तथा हृदय को शक्ति प्रदान के निमित्त शुद्ध शहद तथा अनार अभाव में कच्ची लौकी का रस तथा शहद तथा श्लेष्मा-निवारणार्थ नीबू का रस, कुनकुना गरम जल तथा शहद के मिश्रण से शरबत तथा श्वसन-संस्थान एवं श्वास-नलिका की स्वच्छता के हेतु नीबू-रस, जल, शहद का पेय तथा ज्वर निवारणार्थ नेनुआ, छै माशा अदरक मिली बिना नमक तथा बिना छौंक की तरकारी) में विचरण करते ही इन्फ्लुएञ्जा छू-मन्तर हो जाता है।

परन्तु आज दिन प्रकृति-प्रदत्त साधारण फल तथा शाक व सब्जी भी दुर्लभ हो रहा है। इसीलिए मैंने सन्तरा का नाम भी न गिनाया। किन्तु प्रकृति के भण्डार में "कमी काहु की नाहिं।"

जहाँ पर कोई रोग उत्पन्न हो, वहीं उसके निवारणार्थ उसके साधन (सूर्य-रश्मि, जल, मिट्टी तथा वनस्पति, कन्द, मूल फल आदि) उपलब्ध हैं। अतः इन्फ्लुएञ्जा में भी लेशमात्र भी भयभीत न होवें।

इन्फ्लुएञ्जा की चिकित्सा—प्रातःकाल ५ बजे एक नीबू का रस दो तोला, शुद्ध शहद १ पाव कुनकुने गरम पानी में मिलाकर, मिट्टी या शीशे के पात्र में एक-एक घूँट मुँह में दो-दो मिनट रोकते हुए पीजिए।

६ बजे—शौचादि से निवृत्त होकर, एक नीबू का रस एक तोला शहद आध सेर पानी में मिलाकर गरारा (गार्गलिङ्ग) करिये।

६½ बजे—६ माशा मुलैठी या रब्बेसूस मुँह में रखकर चूसिये।

७ बजे—रात का भिगोया हुआ त्रिफले का जल १ पाव पीजिये।

८ बजे—कोमल एवं नरम नेनुआ को केवल जीरे के साथ बिना तैल घी के छौंक के, किंचित नमक मात्र डालकर तथा ६ माशा अदरक (आदि) डालकर पकाइये। और पकते ही उतार लीजिये, जल जलने न पावे। उसमें नीबू का रस मिलाकर खाइये।

इस प्रकार तीन-तीन घण्टे पर दिन भर में चार बार नेनुआ खिलाइये और तीन दिन तक अन्न तथा दूध आमुल बन्द रखिये।

तीन दिन बाद नेनुआ खाने के बाद प्रत्येक बेर एक पाव दूध पिलाइये।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रयोग से सर्वप्रकार का इन्फ्लुएञ्जा शत प्रतिशत आरोग्य होंगे विशेषता यह होगी कि इन्फ्लुएञ्जा की चपेट में झकझोरे हुए प्राणी में अनेकानेक रोग पुराने (क्रानिक) रोग में परिणत हो जाते हैं। वे प्रकृति के प्रताप से पूर्णतया सुरक्षित एवं स्वस्थ रहेंगे।

अकर्मण्यत्व का प्राकृतिक उपचार

श्री लक्ष्मीनारायण 'अलौकिक'

जन्म से ही जो आलसी, प्रमादी एवं अचंचल होते हैं उनकी बात पृथक् है किन्तु शरीर में अम्लता बढ़ जाने के फलस्वरूप जो अस्वाभाविकता आ जाती है उसका प्रतिकार उपयुक्त उपचारों से सर्वथा संभव है। तीक्ष्ण विषों की प्रतिक्रिया से भी स्नायुमण्डल को उद्दीप्त एवं स्वकार्यक्षम किया जा सकता है किन्तु जहरों के घातक प्रभाव से कालान्तर में चिर-शिथिलता आ जाती है। अतः आवश्यक यह है कि मूल प्रवृत्ति में व्यतिरेक का कारण देखा जाए एवं तदनुसार चिकित्सा की जाए। प्राकृतिक चिकित्सा लीपापोती एवं रासायनिक परिवर्तन को आदर्श आरोग्य की अक्षुण्णता में जबरदस्त गतिरोध अनुभव करती है। जैसे सफेद दीवार को प्रथम काले रंग से रँग दिया। उस दीवार को सफेद अवस्था में लाने के लिए ऊपर सफेदी चढ़ाने को लीपापोती कहते हैं। चाहिए यह कि रंग की परत को खुरच दी जावे। ऐसे ही एक रस के विरुद्ध दूसरे रस का उपयोग (जैसे दाल में मिर्च अधिक पड़ जाए शक्कर डालकर तीक्ष्णता घटा दी जाती है) रासायनिक परिवर्तन कहा जाता है। हमारे शरीर में अम्लता अथवा विजातीय द्रव्य बढ़ जाता है तो उसे प्रच्छन्न करने के लिए अथवा दूसरे द्रव्य में रूपान्तरित करने के लिए जो औषधियों के प्रयोग किये जाते हैं उन्हें प्राकृतिक चिकित्सा स्वीकार नहीं करती। शरीर में मूल धातुओं के अतिरिक्त जो अनावश्यक (मूलधातुओं को दूषित करने द्वारा) विजातीय द्रव्य संग्रहीत होता है उसे बाहर निकाल फैंकने से ही सच्चा आरोग्य मिल सकता है ऐसा प्राकृतिक चिकित्सा का सिद्धान्त है। संखिया अफीम धतूरा भाँग इत्यादि कई किस्म के जहरों से विजातीय द्रव्य को मूर्छित अथवा सामयिक रूपान्तरण करके आरोग्य प्रदान करने वाली जितनी भी चिकित्सा प्रणालियाँ हैं-- जीवन-सौन्दर्य की परिपाटी को विपर्यित करती हैं।

अस्तु। अब हम लक्ष्य की ओर बढ़ेंगे। हमारे शरीर की जीवन-क्रिया का प्रमुख और अन्यतम आधार रक्त है। रक्त! रक्ताभिसरण क्रिया में जिन-जिन कारणों से गतिरोध आता है उनमें अम्लता और श्लेष्मा की गणना प्रमुख तो है ही, इस निबन्ध में चर्चा का विषय भी है।

रक्त स्वभावतः क्षारीय एवं तरल होता है। बड़ी-बड़ी धमनियों से लेकर मांस और त्वचा में आवेष्ठित रसायनियों (केशिकाओं) तक वह एक क्षण में पार होकर शिराओं में प्रवेश कर जाता है। इतना सूक्ष्म और प्रवाह-मान होता है। किन्तु यदि रक्त में अम्ल वृद्धि हो जाती है तो वह उतना सूक्ष्म नहीं रह पाता फलतः उसका प्रवाह कठिनता धारण करता जाता है। शरीर में चींटियाँ दौड़ना, झुनझुनी चलना, सुन्नता आ जाना, अकड़न पैदा होना, कार्य के प्रति अरुचि आदि सभी उसी के कारण होते हैं। स्वास्थ्य के नियमों की अवहेलना ही उनका उत्तरदायित्व वहन करती है। काश! मनुष्य स्वास्थ्य का रहस्य समझता, शरीर में विजातीय द्रव्य नहीं बढ़ने देता, रक्त में क्षारीयता एवं अम्लता का अनुपात यथावश्यक रखता।

जो हो। अब हम शरीर में बढ़ी हुई गन्दगी एवं अम्लता के परिष्कार पर विचार करेंगे। प्राकृतिक चिकित्सा में कारण त्याग ही औषधि है, कारण त्याग ही चिकित्सा है अतः अपने रोग

के लिए आहार-विहार तथा नैतिक कर्मों में अपनी न्याय-प्रिय बुद्धि से जो भी कारण परिलक्षित हों उन्हें दूर करना चाहिए।

वैसे शरीर के संशोधन एवं नवसंस्कार के मुख्यतः पाँच मार्ग हैं। जल का पुष्कल प्रयोग, स्वच्छ वायु का अतुल सेवन, प्राकृतिक क्षारों का आहार में विस्तृत समावेश, नियमित प्राणायाम आसन तथा व्यायाम एवं मन में सात्विक विचारों का समाहार।

स्पष्टीकरण चाहिए ! तो लीजिए पर सांक्षेपिक।

जल के प्रयोग दो तरह से होते हैं, बाह्य और आभ्यन्तर। स्नान, कटिस्नान, मेहनस्नान, विविध पैक पट्टियाँ एवं मिट्टी की पुल्टिश बाह्य प्रयोग में सम्मिलित है। जलपान और एनिमा भीतरी प्रयोग की गिनती में आते हैं। इन सब के यथावत प्रयोग के लिए किसी प्राकृतिक चिकित्सक से पूछिए अथवा प्रयोग विधि का साहित्य पढ़िए। यहाँ हम स्नान और जलपान के बारे में कुछ कहेंगे। चूँकि जलपान और स्नान ही जल के मुख्य प्रयोगों के पूरक हैं। किन्तु यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि जलपान और स्नान तो दुनिया ही करती है फिर भला इससे आरोग्य का क्या सम्बन्ध ! पर जल-पान और स्नान के भी कुछ नियम होते हैं जिनका पालन जनसाधारण बिलकुल नहीं करते।

स्नान के पहले ५-१० मिनिट की कुछ तीखी धूप में निर्वस्त्र बैठिये। पसीना आजाए तो सूखे तौलिए से पोंछ डालिए। गीली मिट्टी या शुद्ध कीचड़ सम्पूर्ण शरीर पर लगाकर धूप या हवा में सुखा लीजिये पश्चात् प्रचुर जल राशि से अंगप्रत्यंग को मसल मसल कर रगड़-रगड़कर नहाइये। नहाने के बाद स्वच्छ तौलिए से शरीर को भली भाँति पोंछिए और उसके बाद सरसों के तेल की कुछ बूँदें हथेली पर फैलाकर शरीर को मालिशनुमा रगड़ दीजिए। तेल की इस हल्की सी मालिश के बाद जरूरत हो तो बदन को कपड़े से पोंछा या रगड़ा जा सकता है। जल पीने का नियम यह कि ऐन सुबह जितना भी जल पिया जा सके पीना चाहिए। भोजन के एक घण्टे पहले और तीन घण्टे बाद जल पीने का अच्छा समय है। वैसे जब भी प्यास लगे पानी पीना चाहिए। किन्तु बगैर प्यास के जो जल पिया जाता है वह उपचार के जलपान में सम्मिलित है। पानी के स्वाद को बढ़ाने के लिए तथा प्राकृतिक लवणों से उसकी उपयोगिता बढ़ाने के लिए उसमें नीबू का रस और कुछ शहद मिला दीजिए। इस तरह प्यास के अलावा लगभग दो लीटर जल हमेशा पीना चाहिए।

स्वच्छ वायु सेवन के लिए सुबह जल्दी उठकर जलपान करके शौच के लिए या भ्रमण के लिए जङ्गल जाइये। स्थिरचित्त होकर लम्बे श्वास प्रश्वास खींचिये। शरीर को कम से कम वस्त्रों में आबद्ध रखिये। रात को खिड़कियाँ खुली रख के सोइये।

आहार में हरी सब्जियाँ (पत्तेदार शाक) फल, कच्चा दूध, छाछ अधिक रखें। चोकर समेत आटे की रोटी बनाएँ। रोटी शाक दाल या छाछ में गीली करके नहीं बल्कि सूखी चबाएँ। शाक-दाल अलग से खाएँ या उनमें पानी कम रहे तो रोटी के साथ खा सकते हैं। अभिप्राय यह कि कब्ज अजीर्ण आदि से बचने के लिए मुँह की लार पेट में जानी आवश्यक है। कब्ज रहती हो और घी तेल का सेवन जारी हो—बन्द कर देना चाहिए। बहुत सी अवस्थाओं में घी कब्ज करता है। खाने पर खाना खाने से बेभूख पेट को विविध बाजारू गरिष्ठ चीजों की आलमारी बनाने से भी कब्ज हो जाती है। जो भी खाना हो एक समय पर खा लेना चाहिए। खाने के ४ घंटे के भीतर जल के सिवाय कुछ भी ग्रहण नहीं करना चाहिए।

प्राणायाम आसन तथा व्यायाम का समय

है प्रातःकाल शौच के बाद और स्नान से पहले।

सबके प्रति आत्मीयता और हितचिंतना का भाव मन में बार-बार कायम करने से सात्विक विचारों की सृष्टि होगी। क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, ग्लानि आदि मनोविकार शरीर की स्वास्थ्यनीति में जबरदस्त रोड़ा अटकाते हैं अतः अभ्यासपूर्वक उन्हें पलायित कर देना चाहिए।

उपरोक्त पाँचों नियमों का पालन करने से शरीर में स्फूर्ति, कर्मण्यता एवं जीवन के प्रति रुचि ही उत्पन्न नहीं होती प्रत्युत शरीर मन और मस्तिष्क का बीमा भी हो जाता है। मा प्रकृति की और का बीमा।

दिव्य सन्देश

श्री कृष्णानन्द जी

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि
गीता० १८।५८

अपने भविष्य को सुखमय, सन्तोषमय, प्रेममय और आनन्दमय बनाने के लिए निरन्तर सुख के, प्रेम के और आनन्द के चित्र बनाते रहिये। जब कभी अप्रिय भावनाएँ मन में उठें तो सावधान हो जाइये और सुन्दर-सुन्दर भावनाओं से तुरन्त ही हृदय को भर दीजिए। जब कभी कोई अप्रिय, अशुभ और अमंगल घटनाएँ घटित हो जायँ तो आप उदास मत हो जाइये। पर निश्चय कीजिये कि प्रत्येक घटना में मंगलमय भगवान की कृपा लबालब भरी हुई है। स्मरण रखिये कि मंगलमय भगवान के मंगलमय राज्य में मंगल ही मंगल है। अमंगल है ही नहीं।

जब कभी आप संकट में पड़ जायँ तो संकट का चिन्तन मत कीजिये, उसका चिन्तन करने से तो वह और भी बढ़ेगा ही। सब प्रकार के उधेड़-बुन को छोड़कर अपने मन को शान्ति की ओर लगा दीजिये। अन्धकार को दूर करने के लिए अन्धकार से लड़ना कहाँ की बुद्धिमानी है। उससे तो शक्ति का अपव्यय ही होता है। बुद्धिमानी तो है प्रकाश को बुलाने में।

× × ×

यदि संकट पड़ जाय तो वीरतापूर्वक सामना कीजिए। भगवान से प्रीति प्रतीतिपूर्वक प्रार्थना कीजिये कि वे सहन करने की शक्ति प्रदान करें; पर भूलकर भी उधेड़-बुन की फेर में न पड़ें। क्योंकि इससे समस्या तो हल होगी नहीं उल्टे और उलझेगी। विकट से विकट समस्या को हल करने के लिए भगवान में अपने मन को लगा दीजिये और अपनी समस्या को भूल जाइये। विश्वास कीजिये प्रभु का आशीर्वाद आपको प्राप्त है।

× × ×

आपका भावी जीवन आपके वर्तमान जीवन पर निर्भर करता है। इसको मत भूलिये। आप का विचार जैसा है आपका आचार भी वैसा ही बन जायगा। अन्त में आप स्वयं भी वैसा ही बन जायँगे। अतः आप आज ही अपना सुधार कर लीजिये। कल तो होता ही नहीं है। यदि आपका आज बिगड़ जायगा तो कल का आप सुधार नहीं कर सकते। मनुष्य का सुधार उसके आचार-विचार के सुधार में ही निहित है। अतः कल्याणमय आचार-विचार के द्वारा आप आज ही सुधर जाइये। फिर कल तो आपका सुधरा ही मिलेगा।

सुखी मीन जे नीर अगाधा।
जिमि हरिसरन न एकउ बाधा।

महत्वपूर्ण सूचना

तैंतीसवाँ आध्यात्मिक साधन समारंभ

आध्यात्मिक मण्डल एवं कल्पवृक्ष मासिक पत्र के संस्थापक स्व० डॉ० नागर जी द्वारा पूर्व आयोजित आध्यात्मिक साधना का तैंतीसवाँ समारोह चैत्र शुक्ल १, २, ३, ४, वि० सं० २०२० तदनुसार ता० २६, २७, २८, २९ मार्च सन् १९६३ मंगल, बुध, गुरु, एवं शुक्रवार को होना निश्चित हुआ है। प्रतिवर्ष के अनुसार यह समारोह शहर से दो मील बाहर, एकान्त, क्षिप्रा नदी किनारे गंगा घाट स्थित साधनालय के प्रांगण में होगा।

यह अमूल्य मनुष्य देह दुबारा फिर इसी रूप में मिलेगी इसे कोई नहीं जानता। हमारा यह जीवन कुछ आत्मविकास अथवा आत्म-परमात्म का ज्ञान प्राप्त करने का अचूक अवसर है। जीवन की रोज की होने वाली व्यावहारिक झंझटें तो हमेशा चलती रहेंगी और देह के नष्ट होने पर भी खत्म होने वाली नहीं हैं। जीवन भर बाह्य जगत के लाभ के हित दौड़-धूप हाय-हाय करना मात्र हमारे जीवन का उद्देश्य नहीं है, वरन् इससे भी ऊँचा और अनमोल कुछ साधन करना है। हमारा उद्देश्य क्या है, हम और संसार क्या है, जीवन में कैसा व्यवहार और उपार्जन करना चाहिए, इन्हीं विषयों की परस्पर चर्चा की जाती है। सभी विचार और मत के लोग यहाँ आते हैं। उनके अनुभवपूर्ण ज्ञानवर्धक भाषणों से शरीर और मन का आरोग्य, आत्मबल एवं आत्मज्ञान के लिए नवीन साधन और प्रेरणा मिलती है। आध्यात्मिक जिज्ञासुओं को, जीवन की झंझटें छोड़कर कम से कम साल भर में इन चार दिनों तक यहाँ अवश्य रहना चाहिए।

समारोह में आकर चार दिन रहने के लिए जिज्ञासुओं को पहले दस रुपये मनीआर्डर द्वारा भेज देना चाहिए। दिन में दोपहर को एक बार भोजन, तथा रात्रि को अल्प फल दुग्ध आहार होगा। अपना बिस्तर, आसन, जलपान, स्वाध्याय ग्रन्थ एवं अन्य व्यक्तिगत आवश्यक वस्तु साथ लाना चाहिए। कार्य-क्रम इस प्रकार है :—

प्रातः ५ से ६—प्रार्थना, भजन, प्रवचन

८ से १०—योगासन, व्यायाम

१० से १२—मौन जप, सामूहिक यज्ञ

माध्याह्न १२ से १२॥ मध्याह्न उपासना

१ से ४॥ भोजन, विश्राम, स्वाध्याय

४॥ से ५॥ तन मन का आरोग्य, भोजन एवं चिकित्सा पर भाषण।

सायं ७॥ से १०॥ सामूहिक प्रार्थना, प्रवचन, आदि।

आइए, मित्रों को लाइए, और चार दिन के परस्पर सत्संग द्वारा जीवन में नवीन व्यावहारिक उत्साह, प्रेरणा और अनुभव लीजिए।

व्यवस्थापक तैंतीसवाँ समारोह,
कल्पवृक्ष कार्यालय, उज्जैन, मध्य प्रदेश।

ईश्वर ही हमारे जीवन-प्राण हैं

श्री माधव

दैवी सम्पद का गीता में जहाँ उल्लेख हुआ है उसमें 'अभय' प्रथम और मुख्य गुण है। यह अभय पद बिना प्रभु के आश्रय के प्राप्त हो नहीं सकता। संसार में किसी भी व्यक्ति का आश्रय लेकर मनुष्य सुखी और निश्चिन्त हो नहीं सकता। संसार के सारे सम्बन्धों का अन्तिम एवं अवश्यम्भावी परिणाम है एक तिक्तता, एक कटुता, एक निराशा और अवसादी संसार में कोई भी हमारी आशाओं-अभिलाषाओं एवं अभावों को पूरा करने में समर्थ नहीं है क्योंकि यहाँ इस जगत् में सभी एक न एक आशा, एक न एक अभिलाषा और एक न एक अभाव में जल रहे हैं। यही इस जगत् और यहाँ के जीवन का वास्तविक स्वरूप है।

परन्तु इस जगत् में रह कर जिन्होंने भगवान के साथ अपना सच्चा सम्बन्ध जोड़ लिया है वे ही अभय अमृत पद के अधिकारी हैं। वे जगत् से कोई आशा नहीं करते, अभिलाषा नहीं रखते, चाह या माँग नहीं करते। वे जगत् से कुछ भी लेते नहीं, देते ही देते हैं। लेना ही दुःख है, देना ही आनन्द है। इस लिए वे सतत् आनन्द की स्थिति में विचरते हैं—'जा को कछू न चाहिए वह नर शाहंशाह।' उसकी अपनी कोई इच्छा नहीं होती, आग्रह नहीं होता—वह हर हालत में राजी है—क्योंकि भगवान की इच्छा ही उसकी इच्छा होती है--

राज़ी हैं हम उसी में जिसमें तेरी रज़ा है।
याँ यूँ भी वाह वा है, औ वूँ भी वाह वा है।

वह भगवान से भी कुछ चाहता नहीं—क्या चाहे? क्यों चाहे? चाहने का उसे रह क्या गया? उसे तो परम प्राप्तव्य परम प्रियतम प्राणेश्वर जीवनाधार हृदयसर्वस्य मिल गया है और इसी लिए वह अपनी मस्ती के आलम में गाता है—

मालिक! तेरी रज़ा रहे औ तू ही तू रहे।
बाकी न मैं रहूँ न मेरी जुस्तजू रहे॥

वह अलमस्ती का ढिंढोरा नहीं पीटता, दुनिया के दिखावे के लिए उसके पास कुछ है नहीं। वह अपनी साधना को बहुत छिपाकर रखता है। जिस प्रकार गौ स्तान में आया हुआ दूध चुराती है, वेश्या अपनी उतरती हुई उमर छिपाती है, कुलीन स्त्री अपने अंग छिपाती है, उसी प्रकार वह अपने आपको छिपाकर, जन सामान्य में जनसम्मान्य बनकर चलता है, रहता है। वह परम साधना का मार्ग तो पूरी तरह जानता है पर दुनियावी मामले में बिलकुल अनजान बना रहता है। दुनियावी चतुराई से उसका कोई सरोकार नहीं।

अधिकांश व्यक्ति जीवन भर नाना प्रकार की साधना शैलियों को अजमाते रह जाते हैं—कभी कुछ कभी कुछ। कभी यम नियम आसन-प्राणायाम, तो कभी कर्मयोग, कभी भक्तियोग, कभी ज्ञानयोग, कभी कुण्डलिनी-जागरण तो कभी तीर्थाटन। सारा जीवन इन विविध प्रयोगों में समाप्त हो जाता है और कुछ हाथ आता नहीं। थक कर चूर-चूर होकर वे एलान कर देते हैं कि यह सब धोखा है, व्यर्थ का बवण्डर है। आज परमार्थ की दुकानें भी जगह-जगह खुल गई हैं और बड़े चटकीले साइन बोर्ड लगे हुए हैं—आइये हमारे यहाँ एक सप्ताह में भगवद् दर्शन करा देंगे, आइये तुरन्त कुण्डलिनी जागरण करा देंगे, आइये तुरंत अद्वैतसिद्धि हो जायगी इत्यादि-इत्यादि सस्ते नुस्खे। बेचारा साधक एक से दूसरे में, दूसरे से तीसरे में भटकता मारा मारा फिरता है और अन्त में दीखता है कि वे साइन बोर्ड, वे नुस्खे सब बेकार थे, धोखा थे, मृग-तृष्णा थे।

परन्तु सच्चे साधक को—ऐसे साधक को

जो सचमुच मन-प्राण से प्रभु का पाना और उनके प्रेम को पीना चाहता था किसी भी चक्कर में पड़ने की कतई आवश्यकता है ही नहीं। वह एक बार सच्चे हृदय से जब भगवान को पुकारता है और कहता है—प्रभु। मैं तेरा हूँ, मैं तेरा हूँ—तूही मेरी माँ है, मेरा पिता है, तू ही मेरा सर्वस्व है—

'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृद'

तू सब कुछ मेरा है, मेरे प्राणों का प्राण है, जीवन का जीवन है, हृदय के सिंहासन पर विराजमान मेरा प्राणेश्वर प्राणनाथ है—'स उ प्राणस्य प्राणः'—इस भाव से एक बार भी भगवान को पकड़ लेने पर वे दयामय हरि कभी बाँह छुड़ा कर जाते नहीं, जा नहीं सकते—यही उनकी विरद है। शास्त्र साक्षी हैं—संत साक्षी हैं। इस मार्ग में जो सच्चे भाव से आया उसे कभी धोखा नहीं हुआ—इस 'राज मार्ग' पर आँखें मूँद कर दौड़ने पर भी स्खलन या पतन का भय नहीं "धावन्निमिलयन्नेत्रं न स्खलेत् न पतेदिह" —क्योंकि उसका हाथ भगवान के हाथ में है—उसकी लाज भगवान की लाज है, उसका जीवन भगवान का जीवन है। हार और जीत से परे, राग और द्वेष से परे, शोक और मति से परे, निज और पर से परे यही है अखण्ड शाश्वत हरिमय जीवन—जहाँ जीवन ही हरि है, हरि ही जीवन है और हरि में तथा जीवन-प्राण में कोई भेद है ही नहीं—"हरि रे व जगत् जगदेव हरिः"

भागवत सत्य—उसका नाम और रूप

श्री माताजी, पांडीचेरी

वस्तुओं के हृदय-केन्द्र में विद्यमान भागवत सत्य को लोगों ने नानाप्रकार के नाम दिये हैं, प्रत्येक व्यक्ति ने अनुभव के अपने निजी दृष्टिकोण से उसे व्यक्त किया है। परन्तु सर्वदा वह है एक ही वस्तु। उसे प्राप्त करने के लाखों रास्ते हैं, परन्तु एक बात निश्चित है, तुम उसे अवश्य प्राप्त कर सकते हो, चाहे तुम जिस किसी रास्ते क्यों न चलो, चाहे जो कोई रूप तुम उसे क्यों न दो, परिणाम एक ही होता है, अंतिम अनुभूति एक जैसी ही होती है। यदि सब ने उन वस्तु का स्पर्श किया हो तो सब सर्वदा उसी एक वस्तु को स्पर्श करते हैं। और उन्होंने उस वस्तु को स्पर्श किया है इसका प्रमाण यह है कि वह चीज सबके लिए एक ही है; यदि वह एक ही चीज नहीं है तब उन्होंने उसे स्पर्श नहीं किया है। तुम अपनी पसंद के मुताबिक चाहे जो नाम उसे दे सकते हो: नाम तो महज एक शब्द है।

आखिर शब्द का मूल्य ही क्या है? क्या तुमने कभी ख्याल नहीं किया है कि ऐसे बहुत से लोग होते हैं जिनसे चाहे तुम जितना ही साफ-साफ क्यों न बोलो पर वे तुम्हारी बात नहीं समझते। फिर ऐसे लोग भी होते हैं जो तुम्हारे केवल दो शब्द मुँह से निकालते ही तुम्हारी बात समझ जाते हैं। बाहरी रूप—शब्द की ध्वनि का एक अर्थ होता है यदि उसके पीछे विचार की शक्ति विद्यमान हो; विचार की शक्ति जितनी ही बड़ी होती है, वह जितनी ही अधिक सामर्थ्यशाली, सुनिश्चित और स्पष्ट होती है, लोगों के उस शक्ति को ग्रहण करने तथा उस शक्ति को वहन करने वाले शब्द को समझने की संभावना भी उतनी ही अधिक होती है। परन्तु बिना सोचे-विचारे ही यदि कोई बोले तो सामान्यतया उसे समझना असंभव ही होता है; तुम्हें ऐसा मालूम होगा मानो वह केवल शोर मचा रहा है। तुमने यह भी ख्याल किया होगा कि जो

लोग एक साथ रह चुके हैं और एक दूसरे के विचार और बातचीत को समझने के आदी हैं। उन्हें अपने व्यवहृत शब्दों की कोई व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं होती या यहाँ तक कि उन्हें एक-दूसरे की बात समझने के लिए अधिक शब्दों का प्रयोग करने की भी जरूरत नहीं होती। उनके मनों में एक प्रकार का सामंजस्य स्थापित हो चुका है और शब्द तो भीतरी संपर्क के लिए महज एक बहाना है, वह सम्पर्क मस्तिष्क के साथ मस्तिष्क का होता है जो शब्दों के पीछे छिपा होता है अथवा उनसे पहले से ही वहाँ विद्यमान रहता है। परन्तु जब तुम किसी नये आदमी से मिलते हो तो जिन शब्दों का वह व्यवहार करता है उन्हें समझने के लिए अपने आपको अनुकूल बनाने और व्यवस्थित करने में तुम्हें कुछ समय लग जाता है।

वास्तव में शब्द का अर्थ, शब्द के पीछे विद्यमान विचार ही प्रधान है। जब विचार का शक्तिशालिता के साथ चिन्तन किया जाता है तब वह एक प्रकंपन उत्पन्न करता है जिसका शब्द केवल वाहन या मध्यस्थ होता है। सच पूछा जाय तो तुम अपनी विचार-शक्ति को इस हद तक विकसित कर सकते हो कि तुम कम-से-कम शब्दों के द्वारा या यहाँ तक कि एकदम बिना शब्द के ही सीधा स्थूल संपर्क स्थापित करने में समर्थ हो सको। स्वभावतः ही इसके लिए एकाग्रता की प्रबल शक्ति की आवश्यकता होती है। परन्तु तुम देखोगे कि शरीर-रूपी यंत्र केवल एक साधन है जो एक मशीन की तरह कार्य करता है; वह एक उपकरण तो है, पर वह सर्वदा महत्वपूर्ण या अनिवार्य नहीं है।

जब हम भगवान् के विषय में सचेतन होते हैं तब क्या हम उन्हें सब चीजों के अंदर किसी विशिष्ट रूप में देखते हैं?

क्या तुम प्रत्येक और सभी चीजों में एक भागवत रूप देखने की आशा करते हो? ऐसा हो सकता है। पर इस विषय में मुझे सन्देह है; मेरी धारणा यह है कि ऐसे अनुभवों में बहुत बड़ा भाग कल्पना का होता है। उदाहरणार्थ, प्रत्येक प्राणी या वस्तु में तुम कृष्ण, ईसा या बुद्ध का रूप देख सकते हो। परन्तु मेरा कहना यह है कि इस दर्शन के अंदर मानवीय कल्पना का बहुत सा अंश घुस आता है। अन्यथा अभी-अभी जो कुछ मैं कह रही थी वह सत्य नहीं होगा। मैंने कहा था कि जो लोग भगवान् के विषय में सचेतन होते हैं, जिन्हें भगवान् का संस्पर्श मिलता है, उन सबको, चाहे वे जो कुछ हों, चाहे जिस किसी युग या देश के हों, मूलतः एक ही अनुभव प्राप्त होता है। अगर ऐसा न हो तो हिन्दू सदा ही अपने किसी एक देवता को देखेंगे, यूरोपियन अपने किसी देवता को देखेंगे, जापानी तीसरे ही प्रकार की किसी चीज को देखेंगे और इसी तरह अन्यान्य लोग अन्यान्य चीजें देखेंगे। इसका मतलब है कि प्रत्येक आदमी अपने दर्शन में अपनी निजी मानसिक रचना को जोड़ देगा और वह चीज मूल या शुद्ध सद्वस्तु नहीं होगी जो कि सब रूपों के परे है। मनुष्य को भागवत उपस्थिति का दर्शन हो सकता है, वह दर्शन खूब गहरा हो सकता है, यहाँ तक कि भगवान् के साथ मनुष्य का व्यक्तिगत सम्बन्ध भी स्थापित हो सकता है, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि जिस प्रकार के रूप की तुम कल्पना करते हो उसी रूप में या उसी रूप के द्वारा ऐसा हो, यह एक अवर्णनीय वस्तु है, सभी व्याख्याओं या परिभाषाओं के परे की चीज है, यह केवल उसी मनुष्य की समझ में आती है जिसे अनुभव प्राप्त हुआ है। ऐसा हो सकता है कि तुम मानो एकाएक किसी विचित्र अवस्था में पहुँचा दिये गये हो, तुम अपने आपको भगवान् की उपस्थिति में पाते हो जो एक ऐसा रूप लेते हैं जिससे तुम परिचित हो, जिसे तुम अपनी शिक्षा-दीक्षा और परंपरा के कारण भगवान् के साथ जोड़ने के अभ्यासी रहे हो। परन्तु जैसा कि मैं कहती हूँ, यह अनुभव का चरम स्तर तत्व नहीं है: रूप अन्ततः अनुभव को सीमित कर देता है, उसकी विश्वव्यापकता को तथा उसकी शक्ति के बहुत बड़े अंश को उससे दूर कर देता है।

कर्म ही में मुक्ति है एवं बंधन (मुक्ति) है

पं० रामलाल जी पहाड़ा

दो विरोधी वस्तुओं का एक स्थान पर आश्चर्यकारक है परन्तु प्रकृति का ऐश्वर्य यही है उसमें आश्चर्यजनक कार्य होते हैं। इसमें मुख्य बात यह है कि दोनों युगपद (एक साथ) नहीं रहते। यथार्थ काम में नहीं परन्तु करने की रीति का परिणाम मुक्ति या बन्धन होता है।

भगवान का कहना है "न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्म फले स्पृहा। इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न सबध्यते।" भगवान फल की स्पृहा न रखने से अलिप्त (मुक्त) रहते हैं परन्तु जीवात्मा वासनाबद्ध हो जाता है। वह भी भगवान के ऐश्वर्य को अन्तःकरण जान कर बन्धनमुक्त हो जाता है। जीवात्मा को प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों से प्रेरित होकर कर्म करना पड़ता है क्योंकि नियत कर्म किये बिना शरीर यात्रा सिद्ध नहीं होती। यथार्थ कर्म मुक्तिदायक होते हैं और अन्य कर्म (स्वार्थ दृष्टि से किये हुए) बंधनकारक होते हैं। केवल शारीरिक कर्म करने से कुछ पाप नहीं होता। मनुष्य स्वकर्म से भगवान की अर्चा कर सिद्धि तथा अपने कर्म में अन्तःकरण से लगे रहने से मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है। आगे कहा है—"यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते" हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न बध्यते।" अहङ्काररहीन मनुष्य इन सब को मारकर भी बन्धन में नहीं पड़ता परन्तु "तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेवयोनिषु" अहङ्कार करने वाले क्रूर मनुष्यों को बार बार आसुरी योनियों में जन्म मिलता है। उनको वहाँ से मुक्ति मिलना कठिन हो जाता है।

इसलिए भगवान समझाते हैं कि अहङ्कार से शास्त्रविधि को छोड़कर मनमाना काम करते हैं वे न सुख और न परमगति पाते हैं। इसलिए कार्याकार्य का निर्णय करने में शास्त्र विधान में कही हुई बात को प्रमाण मान लेना चाहिए। आगे कहा है—"श्रद्धावान न सूयश्च शृणुयादपि यो नरः। सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात् पुण्य कर्मणाम्।" जो श्रद्धा रखकर और ईर्ष्या भाव छोड़कर इस धर्म को सुनता एवं समझता है वह पुण्यवानों के लोक को जाता है।

इसके पहले कह चुके हैं। "अन्ये त्वेवम जानन्तः श्रुत्वान्येभ्यः उपासते। तेऽपि चाति तरन्त्येव मृत्युं श्रुति परायणः।" मुक्ति धर्म को न जानने वाले अन्य जनों से (गीता, रामायण, पुराण, वेद उपनिषद आदि) सुनकर मृत्यु को पार कर लेते हैं। श्रुति परायण होना उनके लिए आवश्यक कर्म है। दुर्गति में डालने वाले काम क्रोध और लोभ हैं। इनके विषय में कहा है। "त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयंजेत्॥ काम क्रोध और लोभ नरक के द्वार हैं इसलिए त्याग करना चाहिए। मुक्ति के लिए कहा गया है। "उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानम वसादयेत। आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः। अपनी आत्मा को तुच्छ मत जानो। ऊपर उठने का प्रयत्न करो। इसीलिए कहा गया है। "मन एव मनुष्याणाम् कारणं बन्ध मोक्षयोः।" काम में मुक्ति और बन्धन नहीं। दोनों मन में ही रहती हैं। पूर्व पुण्यों के उदय से जीवात्मा मुक्ति मार्ग में कर्म करता है।

मुफ़्त में

अपने परिचित, विभिन्न स्थानों पर, अध्यात्म' प्रेमी अथवा रोगी, भ्रान्त मित्रों या व्यक्तियों के पते हमें भेजिए, हम उन्हें 'कल्पवृक्ष' की नमूने की प्रति मुफ़्त भेजेंगे । धन्यवाद !

व्यवस्थापक, 'कल्पवृक्ष कार्यालय', उज्जैन, मध्य प्रदेश

राजयोग ग्रंथमाला

अलौकिक चिकित्सा विज्ञान

अमेरिका में योग प्रचारक बाबा रामचरक जी की अँग्रेजी पुस्तक का अनुवाद चित्रमय छपा है। इसमें मानसिक चिकित्सा द्वारा अपने तथा दूसरों के रोगों को मिटाने के अद्भुत साधन दिये हैं। मूल्य २) रुपया, डाक खर्च ३२ न० पै०

सूर्य किरण चिकित्सा

सूर्य किरणों द्वारा भिन्न-भिन्न रंगों की बोतलों में जल, तैल तथा अन्य औषधि भर कर सूय की शक्ति संचित कर तथा रंगीन काँचों द्वारा सूर्य की किरण व्याधिग्रस्त स्थान पर डाल कर अनेक रोग बिना एक पाई भी खर्च किये दूर करना तथा रोगों के लक्षण व उपचार के साथ पथ्यापथ्य भी दिये गये हैं। नया संस्करण मूल्य ५), रुपया डाक खर्च ४० न० पै०

संकल्प सिद्धि

स्वामी ज्ञानाश्रमजी की लिखी हुई यथा नाम तथा गुण सिद्ध करनेवाली, सुख, शांति, आनन्द, उत्साहवर्द्धक यह पुस्तक दुबारा छपी है। मूल्य २) रुपया, डाक खर्च ३२ न० प०

प्राण चिकित्सा

हिन्दी संसार में मेस्मेरिज्म, हिप्नटिज्म, चिकित्सा आदि तत्वों को समझाने व साधन बतलाने वाली एक ही पुस्तक है। कल्पवृक्ष के सम्पादक नागरजी द्वारा लिखित गम्भीर अनुभवपूर्ण तथा प्रामाणिक चिकित्सा के योग इसमें दिये गये हैं। जीवन में इस पुस्तक के सिद्धांतों से दीन-दुखी संसार का उपकार कर सकेंगे मूल्य २) रुपया, डाक खर्च ३२ न० प०

प्रार्थना कल्पद्रुम

प्रार्थना क्यों तथा किस प्रकार करनी चाहिए। दैनिक सामूहिक प्रार्थना द्वारा अनिष्ट स्थिति से मुक्त होने व दूरस्थ मित्रों व मृत आत्माओं को शांति व अनोखा संदेश दिलाने वाली आज के संसार में अपूर्व पुस्तक है। मूल्य ५० न० पै० डा० १२ न० पै०

आध्यात्मिक मण्डल

घर बैठे आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करने व साधन करने के लिए यह मण्डल स्थापित किया गया है जिससे स्वयं शारीरिक व मानसिक उन्नति कर अपने क्लेशों से मुक्त होकर दूसरों का भी कल्याण कर सकें। सदस्य बनने वालों की शिक्षा व साधन के लिए प्रवेश शुल्क १०) है और निम्नलिखित पुस्तकें दी जाती हैं :—

१-प्राण चिकित्सा २-प्रार्थना कल्पद्रुम ३-ध्यान से आत्म चिकित्सा ४-प्राकृतिक आरोग्य विज्ञान ५-आरोग्य साधन पद्धति ६-अध्यात्म शिक्षा पद्धति ७-त्राटक चार्ट ८-ॐ दर्शन ९-आत्म प्रेरणा १०-कल्पवृक्ष एक वर्ष तक ११-अमूल्य उपदेश।

कोई भी सदाचारी व्यक्ति प्रवेश फार्म मँगाकर सदस्य बन सकता है।

अमूल्य उपदेश

कल्पवृक्ष में पूर्व प्रकाशित अमूल्य उपदेशों का दूसरा संस्करण। मूल्य २) डाक खर्च २४ न० पै०

योगासनचित्र ७५ न० पै० डा० १६ न० पै०

स्व० पं० शिवदत्त शर्मा की पुस्तकें

सोहम् चमत्कार ५० न० पै० ध्यान की विधि ५० न० पै० आरोग्य आनंदमय जीवन ८७ न० पै० ॐकारजप ५० न० पै०

विश्वामित्र वर्मा द्वारा लिखित नई पुस्तकें

प्राकृतिक चिकित्सा विज्ञान

रोग क्यों तथा कैसे होता है, तथा दवा दारू, चीर फाड़, और जड़ी बूटी के बिना, दाम कौड़ी खच के बिना कैसे जाता है, विख्यात डाक्टरों का अनुभव मूल्य १) ५० न० पै०

यौगिक स्वास्थ्य साधन १)

प्राकृतिक स्वास्थ्य साधन

स्वास्थ्य के नये साधन, पौरुषवर्धक नये व्यायामों के २६ चित्र, भोजन की कायाकल्पक कारक नवीन वैज्ञानिक व्याख्या तथा नुस्खे। मूल्य २) डा० २४ न० पै०

आत्म सिद्धि

अथवा दिव्य व्यावहारिक अध्यात्म आत्म विकास द्वारा उन्नति और सफलता प्राप्त करने के व्यावहारिक साधन १)

दिव्य सम्पत्ति

दुःखी थके, उलझनों में फँसे, भ्रांत और निराश लोगों के लिए दिव्य प्रेरणाएँ मूल्य ५० न० पै०

दिव्य भावना (चार्ट) २५ न० पै०

भोजन निर्णय चाट २५ न० पै०

मिलने का पता—कल्पवृक्ष कार्यालय, उज्जैन, (मध्य प्रदेश)।

अभी आपको बहुत जीना है !

जीवन के दिन आपको गिनकर नहीं मिले हैं और मरने की तिथि-घ भी ललाट पर लिखी नहीं है। जन्मे हुए की मृत्यु यद्यपि अवश्य है, फिर भ मौत टाली जा सकती है, उम्र बढ़ सकती है। अपनी अनजान भूलों से रोग ह और अनेक इलाज होकर भी रोग बढ़कर पुराना और असाध्य हो जाय, औ निराश होकर श्मशान जाने के दिन का इन्तजार कर रहे हों तो प्रकृति क शरण में आइए, अपनी गलतियों का सहज प्रायश्चित कर, किसी प्रकार क दवा, इन्जेक्शन या चीरफाड़ के बिना, केवल सूर्य, अग्नि, मिट्टी और जल विभिन्न प्रयोगों से आत्मशुद्धि कर उचित आहार विहार द्वारा नया जीवन प्राप्त करें।

इस प्राकृतिक उपचार पद्धति से—

तन और मन के मल विकार निकलते हैं,

दवाओं का पुराना जमा हुआ विष भी निकलता है,

मोटा व्यक्ति हल्का, कमजोर बलवान बनता है,

तन-मन शुद्धि से पुराना शरीर नया होता है,

कायाकल्प होता है, उम्र बढ़ जाती है,

जीते जी पुनर्जन्म होता है,

रोगी स्वयं अपना डॉक्टर बनता है,

निराश मत होइए, जीवन जीने योग्य है, बार बार यह अनमोल जीवन नहीं मिलता।

प्राकृतिक चिकित्सालय,

गंगाघाट, उज्जैन, मध्य प्रदेश

व्यवस्थापक व प्रकाशक—डॉ० बालकृष्ण नागर, कल्पवृक्ष कार्यालय, उज्जैन, (मध्य प्रदेश)
मुद्रक—भक्तसज्जन, बेलविडियर प्रिंटिंग वर्क्स, इलाहाबाद-२

…ख्या ३७ न० पै० उत्तरप्रदेश एवम् मध्यप्रदेश शिक्षाविभाग द्वारा स्वीकृत वार्षिक मूल्य २) ५० न० पै०



कल्पवृक्ष

अध्यात्म विद्या का मासिक पत्र

उज्जैन, मध्यप्रदेश

नवम्बर १९६२ ई०

…र्ष ४१ …ख्या ३ KALPA-VRIKSHA A MAGAZINE OF DIVINE KNOWLEDGE सम्वत् २०१९ वि०

❀ सम्पादक—बालकृष्ण नागर ❀

स्वर्ण-सूत्र

आत्मनिष्ठा

संत नागर जी

मैं अपने निज स्वरूप में स्थिर होकर शांति सुधा रस पान क रहा हूँ। मेरा सुख तो बाहरी दुनिया के पदार्थों में नहीं है किन्तु भगवा की शरण में है। मैंने अपने स्व स्वरूप में वृत्ति को निश्चल कर लिय है। अब कोई मोह विकार मुझे सता नहीं सकता। विपरी परिस्थिति में रह कर भी मैं अपनी शांति को कदापि भंग नहीं हो देता, क्योंकि मैंने उस परम तत्व को अपने अन्दर खोज लिया है मैं आज सब संसार में आनन्द, निर्भयता और प्रेम का ही अनुभव कर रहा हूँ। मैंने सच्चे आत्मस्वरूप का साक्षात्कार कर लिया है जिसने स्व स्वरूप को पहचान लिया है वह शोक और मोह से पार ह गया है। मैंने अपने अन्दर परम-आत्मा का दर्शन कर लिया है औ मुझे ऊपर-नीचे, इधर-उधर, आगे-पीछे सर्वत्र ही आत्मा दीखता है।

गर्मी, सर्दी, मान, अपमान, सुख, दुःख, राग, द्वेष, लाभ, हानि, जय पराजय आदि द्वन्द्व मुझे दबा नहीं सकते। मैं सांसारिक भोगों को नितां भूल ही गया हूँ। मैं परम निर्द्वन्द्व हूँ और अनन्त आनन्द परम स्वरूप तल्लीन हो गया हूँ और मेरे रोम-रोम से शांति और आनन्द क धाराएँ छूट रही हैं और विश्व में आनन्द बरसा रही हैं।

———

संस्थापक—स्वर्गीय डॉ० दुर्गाशङ्कर नागर





कल्पवृक्ष

अध्यात्म-विद्या का मासिक पत्र

उज्जैन, मध्यप्रदेश

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ गीता ॥

वर्ष ४१ } उज्जैन, नवम्बर सन् १९६२ ई०, सं० २०१९ वि० { संख्या ३

इच्छाशक्ति का प्रभाव

इच्छाशक्ति प्रत्येक मनुष्य की जन्मदत्त सम्पत्ति है। इच्छाशक्ति की निर्बलता के कारण ही दुःख, शोक, भय और आपत्तियों के चंगुल में मनुष्य फँस जाते हैं। केवल संकल्प ही से मनुष्य की मृत्यु तक हो जाती है। इच्छाशक्ति के आश्रय पर ही हमारा जीवन अवलम्बित है। यदि मनुष्य को हर क्षण के लिए भी यह निश्चय हो जावे कि उसकी अमुक दिन अवश्य मृत्यु होगी, तो वह उसी समय मर जायगा। इसके विपरीत यदि भयङ्कर प्राणान्त कर देने वाले रोग के समय यह दृढ संकल्प हो कि "मृत्यु निकट नहीं आ सकती" तो यह निश्चय ही समझिए कि वह जी जायगा। वृत्तियों के गुलाम बने रहने से इच्छाशक्ति निर्बल हो जाती है और अधिकार प्राप्त कर लेने से प्रबल होती है। प्रबल इच्छाशक्ति सम्पन्न होने पर ही मनुष्य अपने जीवन को जैसा चाहे वैसा बना सकता है। प्रबल इच्छाशक्ति सदैव हमारी रक्षा करती है, मृत्यु से टक्कर लेती है और अंतिम तक भी मौत के पंजे से छुड़ाने का प्रयत्न करती है।

एक अंग्रेजी फौज हिन्दुस्तान से जहाज द्वारा विलायत जा रही थी, एडनपोर्ट पर पहुँचते ही एक सिपाही सख्त बीमार हो गया। डाक्टर ने उसे देख कर कहा कि तुम एक दिन के ही मेहमान हो, यहीं पर ही उतर जाओ, तुम्हारी मिट्टी सुधर जायगी; किन्तु उस सिपाही को अपनी जन्मभूमि के दर्शन करने की उत्कट

लालसा लगी हुई थी। उसने डाक्टर से शपथ लेकर कहा कि जब तक मैं अपनी जन्मभूमि के किनारे का दर्शन न कर लूँगा नहीं मर सकता। डाक्टर ने कहा कि आज का ही दिन निकलना कठिन हो रहा है, किन्तु उस फौजी सिपाही ने एक भी न सुनी और जहाज में चलता बना। दिन-ब-दिन मृत्यु और जीवन से घमासान युद्ध होता रहा, आखिर उसने अपनी जन्म-भूमि के किनारे प्लीमाउथ (Plymouth) का दर्शन किया। वह जहाज से नीचे उतारा गया। अपनी हार्दिक इच्छा पूर्ण हुई जानकर उसे परम संतोष हुआ और आधे घंटे के बाद शांति से अपने प्राण विसर्जन कर दिये।

एक अस्पताल में एक रोगी विषम-ज्वर (Typhoid) से पीड़ित होकर अपनी अंतिम घड़ी गिन रहा था। डाक्ट· प्रातःकाल उस रोगी को देखने आये और उसकी शोचनीय अवस्था देखकर दाई से, जो उसकी सेवा में थी, धीमे स्वर से कहा कि यह बीमार थोड़े ही घंटों में मर जायगा। यह आवाज रोगी के कान तक पहुँच गई। वह चौकन्ना होकर बहुत क्रोध में आकर बोला "क्या मैं आज सायंकाल को ही मर जाऊँगा ? मैं बाजी मार कर कहता हूँ कि मैं हरगिज नहीं मरूँगा। उसी दिन से उसके स्वास्थ्य में सुधार होने लगा और वह थोड़े ही दिनों में चंगा हो गया।

डॉक्टर स्कीफील्ड कहते हैं कि मेरे मातहत में एक दाई थी और उसके दिल में यह बहम जम गया था कि वह जब कभी मरेगी विषम ज्वर (Typhoid) से ही मरेगी। जब वह एक विषम ज्वर के रोगी की सेवा सुश्रूषा में थी उसे भी यह संक्रामक रोग छुआछूत से लग गया और उसकी पुरानी कल्पना ने उसे अत्यन्त मरणासन्न दशा में कर दिया। मैं उसे देखने के लिए गया; मुझे देख कर कहने लगी कि क्या मैं मर जाऊँगी ? मैंने उत्तर दिया कि अवश्य। फिर मेरी तरफ देख कर कहा कि आप मेरी कुछ परवाह नहीं करते ? मैंने कहा कि जब तुम कहती हो कि मैं मर जाऊँगी तो तुम मर ही जाओगी फिर क्यों तुम्हारा इलाज किया जाय ? वह पूछने लगी कि क्या यह कहने मात्र से "कि मैं मर जाऊँगी" मृत्यु हो जायगी ? डॉक्टर ने जवाब दिया—हाँ हाँ, अवश्य ऐसा हो सकता है। यदि तुम निश्चय करोगी कि मैं नहीं मरूँगी, तो अवश्य तुम जी जाओगी। डॉक्टर कहते हैं कि जब मैंने निरीक्षण किया था तब इस दाई की ऐसी नाजुक हालत थी कि अगर यह अपनी इच्छाशक्ति को उपयोग में न लाती तो इस संसार से विदा हो जाती। उसने फिर पूछा कि क्या तुम खात्री से कह रहे हो ? डॉक्टर ने कहा कि जब तक तुम यह न कहोगी कि "मैं नहीं मरूँगी" मैं तुम्हें देखने न आऊँगा। यह बात सुन उसने अपने होश सँभाल और डॉक्टर के चेहरे की तरफ बड़े गौर से देखा और बोली कि "मैं अवश्य जीऊँगी, मैं अवश्य जीऊँगी" उसी समय से उसके शरीर में शक्ति आने लगी और जल्दी ही स्वस्थ हो गई।

केनेडा के एक पादरी साहब भयंकर विषम ज्वर से ग्रसित थे। प्रसिद्ध-प्रसिद्ध डॉक्टरों ने उनकी हालत देखकर यह चेतावनी दे दी थी कि अब इनके जीवन की आशा करना व्यर्थ है। तेरहवें दिन डॉक्टर ने कहा कि पादरी साहब को यहाँ से कूँच करने में थोड़े ही मिनिट घट रहे हैं। इसी हालत में पादरी ने स्वप्न देखा और स्वप्न में देवी के दर्शन किये और शरणापन्न होकर स्वप्न में फूट-फूट कर रोने लगे और अपने जीवन की भिक्षा माँगी व कहा कि मुझे इस बला से बचाइए, रोग से मुक्त कीजिए। स्वप्न में ही उत्तर मिला; घबरा मत, शीघ्र ही तू चंगा हो जायगा। पादरी स्वप्न से एकदम चौंक उठे और उनका खतरनाक प्राणान्त समय टल गया। पादरी साहब ने अपने चमत्कार की कथा सबको कह सुनाई। डॉक्टर डगलस ने, जो उनका इलाज करते थे, कहा कि यह

तुम्हारी प्रबल इच्छाशक्ति और दृढ़ निश्चय का प्रभाव है कि तुम नीरोग हो गये हो; किन्तु पादरी के दिल में यही कल्पना जमी हुई थी कि देवी की कृपा से रोग मुक्त हुआ है। पादरी ने ७५०) रुपये का देवी का चित्र बनवा कर गिरजाघर में टँगवा दिया।

एक बार फिर पादरी उसी रोग से पीड़ित हुए और उस बार भी जीवन की आशा न थी। उस समय पादरी साहब अत्यन्त बेचैन हो गये थे। देवी पर से भी श्रद्धा हट गई थी। इच्छाशक्ति के बल को आजमाना चाहा और नीरोग होने के लिए दृढ़ निश्चय किया और अल्प काल में ही स्वस्थ हो गये। और उन्हें यह दृढ़ विश्वास हो गया कि पहली बार भी मैं अपनी प्रबल इच्छाशक्ति और गुप्त मनःशक्ति के प्रताप से ही चंगा हुआ था।

यूरोप और अमेरिका के विद्वान डॉक्टर यह सिद्ध करते जा रहे हैं कि मनःशक्ति दवाओं की अपेक्षा अधिक बलवान है। जिन केसों में कुशल डॉक्टर, वैद्य, हकीम हाथ टेक देते हैं मनःशक्ति अपना चमत्कारिक प्रभाव बतला कर रोगी को मृत्यु के मुख से छुड़ाकर उन्हें विस्मय में डाल देती है।

—:०:—

साधक, सावधान !

(६)

स्व० आचार्य श्री नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ

हम लगभग २-३ वर्ष से "साधक सावधान" कह कर साधकों को जगाते चले आये हैं।

संघर्षहीन, तरङ्गशून्य ऐसी जो शान्ति है वही सच्चे परमोच्च सुख की शान्ति है। जिसको आत्यान्तिक सुख कहते हैं वह यही है।

विषयों का त्याग करके अन्तर्मुख हुए चित्त को जब स्वस्वरूप की पहिचान हो जाती है तब सुख का साम्राज्य रहता है। तब चित्त आत्मा के समरस हो जाता है। तत चित्त का चित्तपन रहता ही कहाँ है ?

जिसके बिना विश्व में कुछ और है भी नहीं "नेह नानास्ति किञ्चन" उसे आत्मा के साथ सम रस हो जाने के कारण चित्त उसी में घुल जाता है।

यह सर्वोच्च अवस्था तब तक प्राप्त न हो सकेगी जब तक साधक अपनी "अहं" को सर्वथा नहीं मिटा देता।

सिद्धि प्राप्ति में साधक का यही "अहंकार" बड़ी भारी रुकावट है। इसलिए "जो कुछ है सो तू ही है, तेरी कृपा से ही मैं तर रहा हूँ" ऐसा मान कर चले साधक।

यह आत्मसमर्पण का भाव ही साधक को उसके अन्तिम ध्येय की ओर ले जा सकता है।

इस "अहंमेध"—यज्ञ से ही ध्यानयज्ञ की सफलता है।

यस्त्वात्मरति रेव स्यात्,
आत्म तृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टः,
तस्य कार्यं न विद्यते।

(गीता ३—१७)

इस वचन के अनुसार आत्मदर्शन या आत्मानन्द से कर्मगति कुण्ठित हो जाती है फिर ऐसे पुरुष को क्या करना रहता है संसार में। कुछ भी नहीं। साधक की दृष्टि सदा पूर्ण की ओर रहती है और उसके सब प्रयत्न अपूर्ण से पूर्ण की ओर जाने के लिए रहते हैं—

इधर उधर देखना कहीं नहीं। इधर-उधर जाना कहीं नहीं।

ऐसे साधक को अप्राप्य क्या है अथवा दुष्प्राप्य क्या है। वह अपने आप में सन्तुष्ट है। उसे फिर करना-धरना कुछ नहीं है।

साधक, हमने अपने छोटे छोटे सूत्ररूप लेखों में साध्य और साधक क्या है इस बात के समझाने का यत्न किया है। साधक को किस बात की सावधानी रखनी चाहिए यह भी बतलाया है। अब साधक, इन सब बातों का ध्यान रख कर आपको आगे अपने उद्देश्य की ओर बढ़ना है। ईश्वर आपको उद्देश्य प्राप्ति में सफलता देवे। यही हमारी हार्दिक शुभ कामना है। [समाप्त]

साधना—जीवन का मुख्य उद्देश्य

स्वामी शिवानन्द जी, ऋषिकेश

१. कोई भी आध्यात्मिक अभ्यास जिससे ईश्वर की प्राप्ति हो साधना कहलाता है। यह मानव जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति का साधन है। मन को स्थिर बनाकर उसे ईश्वर में लगाने को साधना कहते हैं।

२. मुक्ति की प्राप्ति के लिए हर व्यक्ति को किसी न किसी प्रकार की साधना अवश्य करनी चाहिए।

३. साधना वास्तविक धन है। यही एकमेव सत्य तथा शाश्वत वस्तु है। दूध में मक्खन है परन्तु उसके मथने के अनन्तर ही प्राप्त कर सकते हैं। उसी तरह निरन्तर साधना तथा उपासना के द्वारा ही ईश्वर साक्षात्कार संभव है।

४. जप, ध्यान, आसन या प्राणायाम जो भी साधना आप करें उसे आपको नियमित तथा क्रमिक रूप से करना चाहिए। आप अमृतत्व प्राप्त करेंगे।

५. यदि आप संलग्नता तथा उग्रतापूर्वक साधना कर रहे हैं, यदि आप नियमित, क्रमिक तथा दृढ़व्रती हैं तो आपको सफलता प्राप्त होगी।

६. दैववश जो कुछ भी आपको प्राप्त हो जाय उसी से संतुष्ट रहिए। विरक्त मन से साधना में लगे रहिए।

७. साधना में नियमित रहना बड़ा ही आवश्यक है। नियमित ध्यान से समाधि की प्राप्ति होगी। जो मनुष्य अनियमित है वह अपने प्रयासों का फल नहीं पाता।

८. जप, धारणा, ध्यान, स्वाध्याय, सत्संग तथा परोपकार में अपने मन को सदा लगाये रहिए।

९. सदाचार के छोटे-छोटे कर्म भी आपको साधना में सहायता देंगे। कुतियों तथा मलिनताओं को दूर करना ही प्रमुख साधना है। एक स्थान, एक गुरु तथा एक ही प्रगतिशील साधना में संलग्न रहकर मन के विक्षेप को दूर किया जा सकता है।

१०. जिस साधक ने शम तथा दम के अभ्यास से मन को अंतर्मुखी कर लिया है तथा जिसमें प्रबल मुमुक्षत्व है, वह सतत ध्यान के द्वारा अपने भीतर ही आत्मा का दर्शन करता है।

११. आप अपनी आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा समस्त जगत को चलायमान कर सकते हैं।

१२. आध्यात्मिक दैनन्दिनी (डायरी) मन को प्रेरित करने के लिए कोड़े का काम करती है।

१३. स्वार्थ से आध्यात्मिक उन्नति रुकती है। स्वार्थ को दूर करने पर आधी साधना पूरी हो जाती है।

१४. चार बजे प्रातः उठकर ध्यान का अभ्यास कीजिए। प्रारम्भ में स्थूल ध्यान कीजिए। उस रूप में ईश्वर की सत्ता का अनुभव कीजिए। शुद्धता, पूर्णता, सर्वव्यापकता, ज्ञान, आनन्द, सर्वशक्तिमत्ता आदि पर विचार कीजिए। मन के भागने पर पुनः उसे लक्ष्य पर स्थिर कीजिए। रात्रि में ध्यानार्थ दूसरी बार भी बैठिए। अभ्यास में नियमित बनिए।

१५. अपनी नोटबुक में नित्य एक घंटे इष्ट मन्त्र लिखिए। इन्द्रियों को वशीभूत कीजिए। मौन व्रत का पालन कीजिए। सद्विचार, सद्भावना, सत्कार्य तथा सद्वाणी का विकास कीजिए। काम, क्रोध लोभ, घृणा, अहंकार आदि का उन्मूलन कीजिए। जो व्यक्ति उपर्युक्त उपदेशों का पालन करता है, वह इसी जन्म में, नहीं नहीं, इसी क्षण में सफलता प्राप्त करेगा।

साधक सावधान के लेखक नहीं रहे

श्री गोपीवल्लभ उपाध्याय

"कल्पवृक्ष" के पाठक पिछले कुछ वर्षों से जिन महामनस्वी एवं महाविद्यालय ज्वालापुर के कुलपति, वेद-वेदान्त के अपूर्व मर्मज्ञ और उदारचेता एवं अधिकारी उपदेशकर्ता श्रीमान् पं० नरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ की लेखनी से निकले हुए परम कल्याणकारी उपदेशामृत का पान कर रहे थे; अत्यन्त खेद का विषय है कि वे गत् २४ सितम्बर ६२ को देवाश्रम, महाविद्यालय ज्वालापुर (हरिद्वार) में ८४ वर्ष की आयु में दिवंगत हो गये। इस प्रकार पाठकों का एक महापुरुष के सत्संग से वंचित हो जाना ऐसी महान् क्षति है; जिसकी पूर्ति होना असम्भव है।

यह बात बहुत थोड़े लोग जानते होंगे कि श्री शास्त्री जी मूलतः महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे और पूना, बम्बई के बाद पंजाब तथा काशी एवं कलकत्ता में अध्ययन करके उन्होंने उत्तराखण्ड के प्रवेश-द्वार हरिद्वार को अपना कार्यक्षेत्र बना कर जीवन का बहुत बड़ा भाग शिक्षा-क्षेत्र में व्यतीत किया और संस्कृत-विद्या द्वारा भारतीय संस्कृति की रक्षा की।

शास्त्रीजी का जन्म हैदराबाद (निजाम राज्य) के उस्मानाबाद में दि० २१ अक्टूबर सन् १८८० को हुआ था। आपके पिता श्रीनिवासरावजी हैदराबाद राज्य की नौकरी में थे; अतएव आपको भी उनके साथ ६ वर्ष की अवस्था तक कई जगह जाना पड़ा। इस अवधि में धाराशीय नामक स्थान से आपने मराठी की तीसरी कक्षा तक शिक्षा प्राप्त की। तत्पश्चात् पूना के एक मराठी विद्यालय में ५ वर्ष तक रह कर मराठी की छठी तथा अंगरेजी की पाँचवीं श्रेणी का कोर्स पूरा किया। इसके बाद क्योंकि आपके पिताजी सुधारक विचार के थे, अतएव राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर आपको संस्कृत एवं अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने से लिए सीधे लाहौर भेज दिया गया; यहाँ आपने दयानन्द हाई स्कूल में अध्ययन कर सन् १८९६ में मिडिल (आठवीं कक्षा) पास किया। तत्पश्चात् यूनियन एकेडेमी में प्रविष्ट हुए और १८९८ में एन्ट्रेन्स (मैट्रिक) पास किया। पश्चात् निजी तौर पर इण्टर की तैयारी करके भी परीक्षा नहीं दे सके।

सन् १८९९ में पं० गंगादत्त जी शास्त्री के पास जालंधर पहुँचे और २९ जून १९०० को उन्हीं के साथ हरिद्वार चले आये। इसके बाद सन् १९०१ में वैदिक प्रेस (अजमेर) में प्रधान

संशोधक का काम किया। तत्पश्चात् ग्वालियर में भी पं० रघुपति शास्त्री के पास रह कर सन् १९०३ में शास्त्री-परीक्षा पास करके डिप्लोमा प्राप्त किया। उसी वर्ष गुरुकुल सिकन्द्राबाद के मुख्याधिष्ठाता बनाये गये और किंतु थोड़े ही दिनों बाद काशी जाकर महामहोपाध्याय श्री पं० अंबादास जी शास्त्री के पास रहते हुए संस्कृत साहित्य का विशेष अध्ययन किया। तत्पश्चात् १९०५ से १९०७ तक कलकत्ते में गुरुवर सत्यव्रत सामश्रमी की सेवा में रहे और इसी बीच १९०६ में वेदतीर्थ परीक्षा पास की। सन् १९०७ में ही आप गुरुकुल-कांगड़ी में निरुक्ताध्यापक बनाये गये। फिर सन् '१९०८ में गुरुकुल फर्रुखाबाद में आचार्य पद पर कार्य किया। तत्पश्चात् १९०८ से १९१५ तक महाविद्यालय (ज्वालापुर) के मुख्याधिष्ठाता रहे। १९०९ से १९५७ तक आपने इसी विद्यालय में विविध पदों पर कार्य करते हुए कुलपति के रूप में भी कार्य किया। सन् १९१५ में गंगोत्री की यात्रा की और १९१६ तक भोगपुर (देहरादून) में एकान्तवास करते हुए ग्रंथ-लेखन का कार्य किया।

इसके बाद आप कांग्रेस-कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुए और देहरादून से लेकर समस्त उत्तराखंड में आपने जागृति का सन्देश पहुँचाया। बीच बीच में महाविद्यालय का कार्य भी सँभालते रहे। १९५७ तक के ३८ वर्षों में आपने पाँच बार जेल यात्रा भी की। १९२१ से ३० तक दस वर्ष अखिल भारतीय कांग्रेस महा समिति के सदस्य रहे। सन् १९२१ में क्रिमिनल लॉ अमेंडमेंट ऐक्ट के अनुसार १५ मास की कैद और २००) रु० दण्ड। १९३० में नमक सत्याग्रह में ६ मास तथा १९३२ में शराब की भट्टी पर सत्याग्रह करने से ६ मास कठोर कारावास और ५०) दंड न देने पर डेढ़ मास और कारागृह में रहे। सन् १९४० में व्यक्तिगत सत्याग्रह पर लछमनझूला (हृषीकेश) से एक वर्ष कठोर कारावास। सन् १९४२ में भारत रक्षा कानून के अधीन पुनः डेढ़ वर्ष जेल में रहे। इस प्रकार लगभग ५॥ वर्ष आपने जेल-जीवन में बिताये। किंतु जहाँ भी गये आपकी पूर्ण सम्मान रक्षा हुई।

इसके बाद १९४२ में देहरादून में हुई राजनैतिक कान्फ्रेंस के स्वागताध्यक्ष बने जिसकी अध्यक्षता पं० जवाहरलाल नेहरू ने की थी। इसी प्रकार १९२५ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन (देहरादून) के स्वागताध्यक्ष बनाये गये। १९२६ में आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त के भी स्वागताध्यक्ष चुने गये। १९२६-२७ में भयंकर वातरोग से पीड़ित हुए और कनखल के पं० रामचन्द्र जी वैद्यशास्त्री के उपचार से स्वस्थ हुए।

सन् १९४४ में आपने दक्षिण यात्रा की। इस प्रकार लगभग ५० वर्ष पश्चात् आपने घर का मुँह देखा। तब तक अधिकांश पारिवारिक जन दिवंगत हो चुके थे। उधर से लौटकर आपने फिर महाविद्यालय की सेवा के ही साथ साथ कांग्रेस के प्रमुख नेता के रूप में उत्तराखंड में जागृति का संचार किया। सन् १९४७ में आप महाविद्यालय की सेवा से मुक्त होकर स्वतंत्ररूप से विचरण एवं जीवन-यापन करते रहे।

इस बीच आपने तीन बार पूरे गढ़वाल की यात्रा की। एक बार आप काश्मीर तथा एक बार लंका और आसाम की यात्रा भी कर आये। इसी प्रकार गुजरात-सौराष्ट्र और सिन्ध में भी भ्रमण किया। एक साथी के बीमार हो जाने से ब्रह्मदेश नहीं जा सके! सीमा प्रान्त तक भी आप गये।

सन् १९५२ से १९५७ तक आप विधान सभा उत्तरप्रदेश के सदस्य रहे और गौवध-निषेध कानून पास कराने में आपने पूरा-पूरा प्रयत्न किया। इसके बाद आपने प्रायः ज्वालापुर-देहरादून में ही अपना समय बिताया। गर्मी की मौसम में आप प्राय: दो-तीन मास मसूरी या राजपुर में रहते थे। इस प्रकार लग-

भग ७५ वर्ष तक आपने स्वावलंबी जीवन बिता कर तथा आजन्म ब्रह्मचारी रह कर एक अपूर्व आदर्श उपस्थित किया।

यह शास्त्री जी के जीवन का अत्यंत साररूप परिचय है। जिन्हें पूर्ण परिचय प्राप्त करना हो वे महाविद्यालय ज्वालापुर (हरिद्वार) से ५) रु० में आपकी आत्मकथा मँगवा कर पढ़ें। हमें विश्वास है कि उन्हें उस ग्रन्थ से पूर्ण संतोष ही नहीं, वरन् अपूर्व स्फूर्ति एवं ज्ञान वृद्धि का भी लाभ होगा।

इतने लम्बे जीवन में शास्त्री जी ने कई उलट-फेर देखे। और उन सब अनुभवों को लिख कर सर्व साधारण के लिए सुलभ कर देने की कृपा की है। आपने लगभग २५ ग्रन्थों की रचना कर हिन्दी साहित्य में अपना एक विशेष स्थान प्राप्त कर लिया था और प्रायः अनेक पत्रों में नियमित लिखते ही रहते थे। आप में अद्-भुत् स्फूर्ति और प्रतिभा थी। यही कारण है कि किसी के माँगने पर तुरंत ही प्रामाणिक भाषा में लेख लिख कर दे देते थे। आपको किसी विषय में जरा भी सोचने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। आपका स्वभाव बाल सुलभ सरलता लिये हुए अत्यंत विनोदी भी था। अतः आप छोटे से लेकर बड़े तक सभी के प्रिय एवं श्रद्धा-भाजन हो गये थे।

आपने मालवा की यात्रा में उज्जैन पधार कर "कल्पवृक्ष" कार्यालय में दो बार ठहर कर इस संस्था की गतिविधि पर पूर्ण संतोष व्यक्त किया और संत नागर जी के साथ तो आपकी अपूर्व आत्मीयता हो गई थी। इसलिए समय समय पर पत्र-द्वारा संस्था का हाल-चाल पूछते रहते और कल्पवृक्ष के लिए नियमित रूप से लिखते रहते थे। इस प्रकार स्व० पंडित शिव-दत्त जी के पश्चात् शास्त्री जी के रूप में कल्पवृक्ष को एक प्रमुख आधार स्तंभ से वञ्चित हो जाना पड़ा। किंतु भौतिक रूप से वे भले ही न रहे हों, उनकी अमर आत्मा का सम्बन्ध तो कल्पवृक्ष से अटूट ही रहेगा।

शास्त्री जी के मुख्य ग्रन्थ हैं। (१) आर्य-समाज का इतिहास (३ भाग)। (२) सचित्र शुद्ध बोध। (३) ऋग्वेदालोचन। (४) गीता विमर्ष। (५) पत्र-पुष्प। (६) राजशास्त्र। (७) सन् १६२१ की धकापेल (जेल-कथा) जिसे म० गांधी ने गुजराती में छपाने को कहा था। (८) आनन्दबाग। (६) दयानन्द दिग्विजय। (१०) वैदिक स्वराज्य आदि।

इनके अतिरिक्त सामयिक पत्रों में लगभग एक हजार लेख आपके प्रकाशित हुए होंगे। ऐसा कर्मयोगी एवं निष्काम सेवाव्रती महापुरुष आज हमसे विच्छिन्न होकर भी एक अमर सन्देश सब को दे गया है। प्रभु उन दिवङ्गत आत्मा को अक्षय शांति प्रदान करे यही प्रार्थना है। ॐ

महत्वपूर्ण निवेदन

यदि इस अंक के साथ आपका वार्षिक मूल्य समाप्त होने की सूचना आपको मिली है तो अगले वर्ष का मूल्य २॥) हमें मनीआर्डर से भेज दीजिए अन्यथा वी० पी० से आपको ३।) देने होंगे। ग्राहक न रहना हो तो एक पोस्टकार्ड लिखकर हमें सूचित कर दें अन्यथा आपके मौन रहने से हम वी० पी० भेज देंगे और आप वापस कर देंगे तो हमें ॥) डाकखर्च का नुकसान होगा। ग्राहक नम्बर अवश्य लिखिए। धन्यवाद!

स्वरूप की अनुभूति में मस्त रहिए !

अनु० श्री गोपीवल्लभ उपाध्याय

यदि हम साक्षी (द्रष्टा) बनकर सब कुछ भोगते रहें, साथ ही यह भी अनुभव करते रहें कि यह सब स्वप्न के जैसा खेल है और वह सब भी केवल स्वप्न द्रष्टा का ही खेल है; तो फिर सभी उपाधियाँ आनन्दपूर्वक ही भोगी जा सकती हैं। क्योंकि जब हमने सबको उपासना करके ही बुलाया है; तो फिर इसमें दोष किसका हो सकता है ? अतएव इस भूत (पंचमहाभूतों) की उपासना छोड़कर अब हमें चैतन्य की उपासना करने की शिक्षा अनुभव द्वारा प्राप्त होती है। साथ ही उपासना करके जिन्हें बुलाया है; उनका ऋण भी हमें मुस्कुराते हुए चुकाना चाहिए। एक संत अनुभवपूर्वक कहते हैं कि—"चैतन्य के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है !" हमारा मन उत्पन्न होने के साथ ही अहंभाव को पैदा करके द्वैत-दुई को प्रकट कर देता है, इसीसे यह सब गड़बड़ मच रही है। अतएव अब सभी सगे-सम्बन्धी, शत्रु-मित्र, लता-वृक्ष, पशु-पक्षी आदि चैतन्य मय ही हैं, इस भाव की उपासना होनी चाहिए। यह प्रार्थना ही सच्ची उपासना है। क्योंकि सच्ची प्रार्थना में साधक शून्यवान् बन जाता है। वह सर्वत्र चैतन्य को ही देखता है। उस दशा में कुछ भी याचना आदि की आवश्यकता ही नहीं होती। क्योंकि उसे सब कुछ प्राप्त ही रहता है। सब कुछ अपनी ही रखी धरोहर के समान है, कभी यह जल्दी मिल जाती है और कभी देर से। किन्तु जब जिसको आवश्यकता होती है, तभी वह ले जाता है। हमारे सगे-सम्बन्धी या रुपया-पैसा सभी धरोहर के समान ही हैं, किन्तु इस भावना को प्रकट कर देने में कोई लाभ नहीं; इसे तो भीतर ही भीतर अनुभव करना चाहिए। इस प्रकार की मस्ती को दिन रात अनुभव करते रहिए।

हमें प्रेमपूर्वक अपने स्वरूप का विचार करते हुए उसमें यहाँ तक ओतप्रोत हो जाना चाहिए कि हमारा शरीर इन्द्रियों के कपूर की आरती के समान हो जाय। और सच्चा आत्मभाव जागृत हो उठे ! वह आत्मभाव तो सतत जागृत है ही; किन्तु यह कहिए कि हमारे मनीराम अपनी पुरानी आदत के कारण इस बात को भूल जाते हैं। क्योंकि यह स्पष्ट ही है कि यदि मन उसे स्मरण करने को तैयार होने लगे तो स्वतः मन का ही अस्तित्व लोप हो जाता है। तब वह उसे याद ही क्यों करने लगा ? जब तक उसकी यह आदत छूट नहीं जाती; तब तक वह सुखी भी कैसे हो सकता है ? इसीलिए संत कबीर कहते हैं :—

"मन तोहे केहि विधि कर समझाऊँ ?"

ऐसा प्रतीत होता है कि सभी संत महात्माओं ने 'मनोनाश' पर ही विशेष जोर दिया है। भक्ति अथवा योग या ज्ञान के द्वारा यह 'मनोनाश अपने आप हो जाता है। एक बार दृढ़ता हो जाने पर फिर इनका सहारा लेना या न लेना हमारी इच्छा पर निर्भर करता है। सर्व प्रथम तो जिस जादूगरी के चक्र में हम फँस गये हैं, उसमें से निकलने की आवश्यकता है। और इसके लिए जो प्रयत्न किया जाता है, उसी का नाम तप है।

हमारा वास्तविक स्वरूप साक्षी-ब्रह्म-परब्रह्म सुख-दुःख या राग-द्वेष (मेरा तेरा के साथ) से परे है। उससे माया आदि सब दूर रहते हैं। अर्थात् वह स्वभावतः ही मुक्त है। अंततः उसमें मुक्ति की इच्छा होना ही बन्धन है। अतः जब भी शांति-भंग हो, तब समझ लेना चाहिए कि शरीर, इंद्रियों का अंतःकरण में अहंभाव जाने या अनजाने में जागृत हो उठा है। अतः उसी

समय मनीराम से यह पूछना चाहिए कि 'मैं कौन हूँ ?' हमें यह अनुभव करना होगा कि "मैं साक्षी परब्रह्म सच्चिदानंद के सिवाय और कुछ भी नहीं हूँ। अर्थात् शरीर, मन आदि का मैं साक्षी हूँ।" इस प्रकार के विचार में निमग्न हो जाना चाहिए। जब तक यह भाव जाग्रत न हो उठे; तब तक हमें बारंबार मन से यह प्रश्न करते रहना होगा कि "मैं कौन हूँ ?" और इसके बाद अपने वास्तविक स्वरूप में मस्त होकर विचरना चाहिए। हमें मोक्ष के स्वरूप को प्राप्त करना शेष नहीं है; क्योंकि हम (आत्मा) तो स्वाभाविक रूप से ही मुक्त हैं। अतएव जब हम स्वाभाविक रूप से साक्षी रूप में मस्त हो जाते हैं; तब सभी पदार्थों का त्याग अपने आप हो जाता है। शरीर को ही साढ़े पाँच फुट का जगत् मान लेना ही अनेक प्रकार के प्रपंच में फँसा देता है। साथ ही शुद्ध स्वरूप आत्मा को कीचड़ में लौटने की दशा में पहुँचा देता है। अर्थात् शुद्ध आत्मभाव से देहभाव में खींच ले जाता है। दुःख का ही दूसरा नाम बन्धन है। इसीलिए मनुष्य दुःख या बन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न करता है। ऐसी दशा में जब तक अपने स्वरूप का भान दृढ़ न हो जाय, तभी तक ऐसा होता रहता है। प्रत्येक की आत्मा का स्वरूप एक ही है। अतएव हमें समय-समय पर स्वरूप की भावना प्रत्येक क्रिया में अनुभव करके शान्तिपूर्वक मौन बैठना चाहिए। किन्तु वह मौन केवल वाणी का ही नहीं मन को भी मौन होना चाहिए।

इस शरीर को अपने अस्तित्व तक न जाने कहाँ-कहाँ यात्रा करनी है। अतः वह जहाँ भी जाना चाहे, वहाँ प्रसन्नतापूर्वक उसे जाने देना चाहिए। किन्तु उसके साथ हमारे लिए कहीं भी जाने आने की आवश्यकता नहीं हैं। अर्थात् उस दशा में हमें दृढ़ता पूर्वक यही अनुभव करना होगा कि शरीर का आना जाना मेरा आना जाना नहीं है। और न ऐसा हो ही सकता है।

जिस प्रकार कोई राजा भंग पीकर अपना राजापन भूल जाय; उसी प्रकार हम भी स्वयं परब्रह्म होते हुए भी मोह-माया वश अथवा अज्ञान के कारण यह भूल गये हैं और अपने को देह रूप समझने लगे हैं। अतएव जिस प्रकार देह आदि में अहंभाव या 'मैं पन' दृढ़ हो गया है, वैसे ही वह अहं-भाव आत्मा में दृढ़ होना चाहिए। इसके सिवाय न तो हमें कुछ करना-धरना है और न कुछ लेना-देना या आना-जाना ही है।

जैसे एक राजकुमार अपने साथियों के संग खेलता रहता है और उस समय उसे यह ज्ञान नहीं होता कि "मैं राजकुमार हूँ।" किन्तु जब उसे यह बात समझाई जाती है और जब वह राजगद्दी पर बैठता है; तब भी खेलते समय वह फिर इस बात को भूल जाता है कि मैं राजकुमार हूँ। तब फिर उसे बारंबार समझाया जाता है और बारंबार गद्दी पर बिठाया जाता है; तब उसके मन में वह भाव दृढ़ हो जाता है कि मैं राजकुमार हूँ। फिर वह खेलते हुए भी यह बात नहीं भूलता कि मैं राजकुमार हूँ। उसी प्रकार हमें भी दृढ़ता होने तक यही अभ्यास करते रहना चाहिए। खेल समाप्त हो जाय या बीच में कोई विघ्न पड़ जाय तो भी हमें तो राजगद्दी पर बैठ ही जाना चाहिए। क्योंकि हमने भी संसार-रूपी खेल आरंभ किया है और उसमें जानबूझ कर स्वयं राजकुमार होते हुए भी इस बात को हम भूल गये हैं। अतएव हमें अपने स्वरूप को समझना चाहिए।

हमें प्रत्येक क्रिया में अपने स्वरूप का ज्ञान बना रहे, इस बात का प्रयत्न करना चाहिए। हमने अपनी इन्द्रियों और मन को ही अपना संसार मान लिया है, इसीलिए हमें दुःख का अनुभव होता है। बाहर का अगर हमें विशेष दुःख नहीं दे सकता वरन् हमारे मन का उत्पन्न

किया हुआ जगत् ही समस्त दुःखों का कारण होता है। अतएव हमें अपने मन को समझाना है—उसकी पूजा करना है। क्योंकि मन ही अनेक प्रकार के प्रपंच रचकर हमारे और परमात्मा के बीच भिन्नता दिखाते हुए हमें इधर-उधर टकराता है। अर्थात् यदि वह अपने ठीक ठिकाने पर रहे तो सब कुछ यथास्थित रह सकता है। इसलिए आत्मस्वरूप के चिंतन की आवश्यकता है। चिंतन करते करते ही दृढ़ता आती है। अतएव इसकी चिंता छोड़कर पहले जो काम हम अज्ञान पूर्वक करते थे उसे हमें ज्ञानपूर्वक करने लग जाना चाहिए।

हमारे अंतःकरण से सदैव यही भावना व्यक्त होनी चाहिए कि "सर्वेभवन्तु सुखिनः सर्वे-सन्तुनिरामयाः" अर्थात् सब सुखी हों—और सब निरोग हों। (शरीर, मन और आत्मा सभी आनंदमय हों) यह बात जैसे-जैसे मनुष्य आत्मा में स्थित होता जाता है, वैसे-वैसे उपर्युक्त उद्‌गार स्वाभाविक रूप से निकलने लगते हैं। क्योंकि आत्मा तो स्वयं सर्वमय है—सर्वत्र है; (यदि उसे इस रूप में अनुभव करना हो तो) तो फिर कल्याण के सिवाय और क्या हो सकता है? प्रत्येक मनुष्य अपने को जिस रूप में अनुभव करता है, अथवा उसे जैसा अभ्यास या अनुभव हो जाता है, उसी का वह वर्णन करता है। किन्तु हमें तो उन सबसे जुदा एव उलटा ही अनुभव करना है।

मन का संयम तो तभी हो सकता है जब कि हम आत्मस्थ हो जायँ—और तभी हम सुख-दुःख के जाल से छूट सकते हैं। यह देखने में तो सरल मार्ग है, किन्तु आचरण में उतना ही कठिन है। यह अनुभव द्वारा समझ सकने पर भी हमें निरंतर इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मैं साक्षी आत्मा परब्रह्म हूँ। सर्वत्र और सर्वरूप हूँ। उसके चिंतन-मनन में लीन रहें। ऐसा करते करते किसी दिन काम बन जायगा। किन्तु प्रतिदिन तो अभ्यास करना ही होगा। एक दिन भी न चूके। इसमें तो हमें खुद देखना है, किसी को कुछ भी बताना नहीं है।

शोक समाचार

यह सूचित करते हुए अत्यन्त दुःख होता है कि आचार्य श्री नरदेव जी शास्त्री वेदतीर्थ का देहावसान २४ सितम्बर १९६२ को हो गया।

श्री विश्वामित्र जी वर्मा का देहावसान ३ अक्टूबर १९६२ को रक्त-चाप के कारण हो गया।

श्री हरवंश राय जी श्रीवास्तव का देहावसान ९ अक्टूबर १९६२ को हृदय गति रुक जाने से हो गया है।

प्रार्थना सभा में उपरोक्त तिथियों को उनकी आत्मा के शान्ति के हेतु प्रार्थना की गई। परमात्मा इनकी आत्मा को शान्ति दे एवम् इनके पारिवारिक जनों को इस महान दुःख को सहन करने कि शक्ति प्रदान करे।

ॐ शान्तिः! ॐ शान्ति!! ॐ शान्तिः!!!

प्रभुमय जीवन

ज्ञान और प्रतिभा

श्री श्रीलाल जी पण्ड्या

आप निःस्वार्थभाव या अपने स्वास्थ्य और बल को बढ़ाने के उद्देश्य से यदि अपनी मानसिक शक्तियों को विकसित करना चाहते हो; तो उसके अनुकूल अपनी मानसिक-स्थिति रखने से अमुक शक्तियों के सम्पर्क में आप अवश्य आ सकेंगे। अर्थात् वे शक्तियाँ अवश्य आप में काम करने लगेंगी और आपको निश्चित परिणाम तक अवश्य पहुँचा सकेंगी। अपनी इच्छाओं को बिना किसी संकोच या सन्देह के मन-द्वारा या मुख से प्रकट करके सूक्ष्म-तत्व में आप ऐसा कम्पन उत्पन्न कर देंगे, जो कि प्रत्येक स्थान पर अपनी छाप जमाये बिना नहीं कर सकता। और अन्य शक्तियों को जाग्रत करके या उनके साथ मिलकर आपकी भावनाओं को अवश्य सफल करेगा। जो मनुष्य इस विषय के उचनियमों और शक्तियों के अनुकूल रहकर बरतता है, उससे कोई भी वस्तुस्थिति दूर नहीं रह सकती। जो अपनी शक्तियों को जानता है और उनका सदुपयोग करता है, उसकी सभी भावनाएँ फलीभूत होने लगती हैं।

सोते समय आप जैसे-जैसे प्रेम, शुभेच्छुता और शांति एवं मेलमिलाप के विचारों का चारों ओर विस्तार करते रहेंगे, वैसे-वैसे आपकी निद्रा अधिक शान्तिमय, सुखकर और बलवर्धक होकर आपकी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति को बढ़ाती रहेगी।

मेरे एक मित्र जो कि मनुष्य जाति के प्रति अपने कल्याणकारी कार्यों के लिए प्रसिद्ध हैं, बतलाते हैं कि "अनेक बार मैं मध्यरात्रि में उठ बैठता हूँ; और उसी समय मेरे सम्मुख बिजली की चमक के समान अपने लिए आवश्यक कार्यों की रूपरेखा अथवा योजना उपस्थित हो जाती है। अन्तःस्फुरण को ग्रहण करने की दशा में शांत पड़े रहने से उस योजना को सुगमतापूर्वक पूर्ण कर सकने की युक्ति भी मेरे सामने उसी प्रकार प्रकट होती है, और उन्हें व्यवहार में लाकर संसार को आश्चर्य में डालने वाली ऐसी योजनाओं को पूरा कर सकने में मैं सफल हो सकता हूँ, जिनकी कि अन्य किसी भी प्रकार से कल्पना तक नहीं हो सकती।" वह मित्र उच्च नियमों का अनुसरण कर अपना जीवन बिताता है, अतएव अपने मन और शरीर के परमाणुओं को उच्च प्रकार के किन्तु सूक्ष्म कंपन ग्रहण करने योग्य बना सका है। और अमुक उद्देश्य सिद्ध करने के लिए अपना समग्र जीवन उसने अर्पण कर दिया, हाँ, इतना अवश्य है कि, वे उच्च प्रेरणाएँ, किस प्रकार और किसकी ओर से प्राप्त होती हैं, इसे वह नहीं समझ सकती। अनेक मनुष्य इस विषय में अनेक कल्पनाएँ कर सकते हैं, किन्तु सच्चे रहस्य को समझने वाले थोड़े ही होते हैं। इतने पर भी यह तो समझा ही जा सकता है और वह समझना आवश्यक भी है कि जो मनुष्य उच्च नियमानुसार अपना जीवन बिताता है और उन उच्च नियमों के जानने के लिए उत्सुक रहता है, उसी को इस प्रकार की प्रेरणाएँ मिलती हैं।

अतः हम भी अपने जीवन को जितना ही उच्च नियमों के अनुकूल बनावेंगे, उतने ही दिव्य रहस्यों और प्रेरणाओं की प्राप्ति हमें अवश्यमेव होती रहेगी। इस विषय के एक गंभीर अभ्यासी बतलाते हैं कि "जब शरीर सो रहा हो, तब भी आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त कर

सकना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है।" क्योंकि हम बाह्य स्थिति पर जितना ध्यान देते हैं, उतना यदि अपनी आंतर स्थिति पर देने लगें, तो इस विषय में हमें इसी प्रकार के अनुभव प्राप्त होने लगेंगे, हमारी वर्तमान और भावी स्थिति का आधार हमारे विचारों पर ही होता है। दिन की अपेक्षा रात में हमारे विचार अधिक जाग्रत होते हैं और बाह्यसृष्टि में जब हम सोते रहते हैं, तब भी आंतर सृष्टि में हम जाग्रत ही रहते हैं। वह आन्तर सृष्टि भी सच्ची दुनिया है और उसकी अच्छी या बुरी स्थिति का आधार मनुष्य की मानसिक और नैतिक उन्नति पर ही होता है। जिस समय हम बाह्य-इन्द्रियों-द्वारा अनुभव प्राप्त नहीं करते, उस अवस्था में हम अंतर द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हैं। इन्द्रियों के विषय में इस प्रकार यथार्थ महत्व ज्ञात हो जाने के बाद मनुष्य को जिस किसी विषय की विशेष जानकारी प्राप्त करने की इच्छा हो, उसी का चिंतन करते हुए उसे सो जाना चाहिए। क्योंकि साधारण मनुष्यों को तो नींद में वृथा स्वप्न ही आते रहते हैं, किन्तु ज्ञानी मनुष्य उसी निद्रा की सहायता से अनेक प्रकार के अनुभव प्राप्त करते हैं। साधारण मनुष्यों में अपने स्वप्नों को समझ सकने की भी शक्ति नहीं होती; किन्तु आगे बढ़ी हुई जीवात्माएँ केवल अपने ही नहीं, वरन् दूसरों के स्वप्न का भी रहस्य भली भाँति समझ सकती हैं। इसका कारण जानने के लिए हमें दूर जाने की आवश्यकता नहीं होगी। क्योंकि इसमें मुख्य आवश्यकता निर्मल जीवन बिताने की ही है। केवल मौखिक बातें या वाचिक ज्ञान अथवा 'अहं ब्रह्मास्मि' कहने से ही काम नहीं चल सकता। मनुष्य का सच्चा सामर्थ्य तो पवित्र जीवन बिताने में ही है। क्योंकि अपनी उच्च भावना के अनुसार जीवन को भी उच्च प्रकार से बिताने का जो प्रयत्न करते हैं, उसी को उत्तम सामर्थ्य और आनन्द प्राप्त होता है। और वही मनुष्य संसार के लिए विशेष उपकारी सिद्ध होता है।

अस्तु। इतना विवेचन हो जाने पर भी पाठक या श्रोता कबतक कनिष्टता के तर्क में सड़ते रहेंगे, इसका आधार उन्हीं की इच्छा पर अवलंबित है। जिस क्षण भी वे इस नर्क से मुक्त होना चाहेंगे, उसी क्षण उस मार्ग पर जाने से उन्हें कोई रोक नहीं सकेगा।

इस प्रकार मनुष्य को परम उन्नति प्राप्त कराने वाला भी मन ही होने से जब कभी वह सच्चे अंतःकरण से उन्नत बनने की इच्छा करेगा, तभी प्रकृति की समस्त शक्तियाँ उसकी पूर्णरूप से सहायता करेंगी।

प्रातःकाल जब कि मनुष्य जाग्रत स्थिति में पहुँचता है, तब उसका मस्तिष्क इतनी शांत अवस्था में होता है कि उसपर सहज ही में गहरी छाप पड़ सकती है। उस समय बाह्य-जगत् के साथ उसके सारे ही सम्बन्ध छूटे हुए रहते हैं। और उसका मन भी अधिक शांत एवं स्वनेत्र होने से फोटो खींचने के कांच की तरह यह तत्काल छाया ग्रहण करने योग्य अवस्था में होता है, और इसी कारण अन्य प्रवृत्तियाँ म[illegible] की चंचलता आरंभ होने के पूर्व ही मनुष्य के अंतःकरण में उच्च विचार स्फुरित हो सकते हैं। यही कारण है कि प्रातःकाल में अनेक मनुष्य अधिक अच्छे काम कर सकते हैं। मानव जीवन को उत्तम बनाने के लिए यह समय परम उपयोगी होता है। और मन भी उस समय कोरे कागज की तरह रहने के कारण उसे हम अपनी इच्छानुसार अत्यन्त उच्च मार्ग की ओर प्रेरित कर सकते हैं।

प्रतिदिन प्रातःकाल का समय ही आरंभ का समय होने से, उस समय ऐसा सोचकर कि मानो हम जीवन का आरंभ ही कर रहे हैं, भूतकाल को भूल जाने का प्रयत्न करना चाहिए। किन्तु इतना अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि "जिस प्रकार हमारी वर्तमान अवस्था हमारे भूतकाल पर से निर्मित हुई है उसी प्रकार हमारा भावी जीवन भी हमारे वर्तमान जीवन पर आधार

रखता है। इसलिए जिस प्रकार पिछले दिन का विचार करने की हमारे लिए आवश्यकता नहीं है, उसी प्रकार आगामी कल का विचार भी कल पर ही छोड़कर आज तो केवल आज का ही विचार करना चाहिए।

"प्रतिदिन नया आरंभ होता है और प्रति प्रातःकाल में संसार नया जन्म धारण करता है। अतएव हे दुःख और पाप से त्रस्त मनुष्यो! देखो देखो, हम सब के लिए आशा की नई किरण फूट रही है।"

"भूतकाल भूत में विलीन हो गया, काम पूरा हो गया, आँसू भी बह गये, कल की भूलें कल ही ढँक दी गईं और कल के घाव रात्रि के शांतिजनक प्रभाव से पुर गये।"

"अब भूतकाल को भूल जाइए; हुआ सो हो गया और जो नहीं हुआ वह हो नहीं सकता। क्योंकि भविष्यकाल हमारे हाथ में है और उसे सुधारने के लिए वर्तमान काल भी हमारे ही हाथ में है।

"आज आकाश नवीन प्रकाश से झलक रहा है और पृथ्वी नये जीवन के साथ जन्म लेती हुई जान पड़ती है। थके हुए अवयव शांति रात्रि बीतने के पश्चात् सूर्य का प्रकाश पाने से पूर्व प्रातःकालीन ओस में स्नान कर पूर्ण शांत रूप में धीरे-धीरे उठते हुए दिखाई देते हैं।"

"प्रतिदिन नया आरंभ होता है। अतः हे मन! मधुर संगीत सुन; और भूतकाल के पापों एवं शोक के अवसरों, उलझन भरे प्रश्नों, एवं आने वाली विपत्तियों का समूह कितना ही विशाल क्यों न हो, धैर्य धारण कर नये दिन के साथ तू भी नवजीवन ही बिताना आरंभ कर।"

प्रातःकाल का एक घंटा अहा! उसमें कितने भव्य, उत्तम और शाश्वत जीवन को अनुभव करने का सामर्थ्य होता है! इसलिए भूतकाल को भूलकर एवं भविष्य की चिन्ता से दूर रहते हुए उस घड़ी से नया ही जीवन बिताने का दृढ़ निश्चय कीजिए; और जब तक दूसरी घड़ी नहीं आ जाती, तब तक उसका विचार ही मत कीजिए। क्योंकि उच्च चरित्र की रचना और उच्च विचार एवं अवसरों को आकर्षित करने का मुख्य रहस्य और बल प्रातःकालीन घड़ी में ही विशेष रूप से होता है। मनुष्य की कल्पना की हुई उत्तम से उत्तम जीवनी भी इस प्रभात का सदुपयोग करने से ही निर्माण की जा सकती है। क्योंकि ऐसी एक भी भव्य वस्तु या अवस्था इस संसार में नहीं है, कि जिसकी ओर सतत प्रयाण करने वाला उससे वंचित रह सके।

यह प्रयोग प्रत्येक मनुष्य के लिए अनुभव कर सकने योग्य है। संसार में ऐसा एक भी मनुष्य नहीं, जो कि अपनी उच्च भावना के अनुसार घड़ी भर के लिए उच्च न बना सके। मान लीजिए कि कोई ऐसा न भी कर सके; किन्तु यदि वह अपने प्रयत्न में दृढ़ आग्रह रखने वाला हो तो "जैसे को और वैसा ही आकर्षित होता है" इस नियमानुसार वह प्रयत्नशील मनुष्य प्रतिक्षण अपने उच्च ध्येय के समीप तो पहुँचता ही जाता है। और उसके बाद की घड़ी में तो वह उससे भी अधिक निकट पहुँच जाता है। इस प्रकार धीरे-धीरे ऐसा समय भी आ सकता है, जब कि वह उच्च स्थिति उसके लिए स्वाभाविक बनती जाकर विरुद्ध प्रकार अथवा हीनकोटि की अवस्था उसके लिए बिलकुल अस्वाभाविक हो जाती है।

इस प्रकार सर्वोच्च परमात्म-तत्व के साथ जो कोई प्रेम करता है और इसके लिए प्रयत्नशील होता है, उसके साथ वह परमतत्व भी प्रीति और परिचय बढ़ाता जाता है और इसके परिणाम-स्वरूप संसार के समस्त शुभतत्व भी उसके लिए अनुकूल हो जाते हैं; क्योंकि वे सबके मूल-भूततत्व के अनुकूल बनना सीखे हुए होते हैं।

मैं मुर्दा था, अब जिन्दा हूँ।

स्व० श्री विश्वामित्र वर्मा

मृत्यु के स्वागत में मौत न आई—
अचानक जङ्गल में अपंगत।

अपनी जन्म तिथि, दिन या तारीख मुझे नहीं मालूम क्योंकि जब मैं संसार में आया तब मेरी ज्ञानेन्द्रियाँ मृतप्राय थीं, अथवा जन्मी न थीं, या विकसित न थीं। मैं आँखों से देखता न देखता, कानों से सुनता न सुनता—सब बराबर था। मैं कौन हूँ, कहाँ आया हूँ, कहाँ था, मुझे यह विचार न था, होश न था परन्तु धीरे-धीरे विकसित होकर होश होने और समझने पर मुझे माता-पिता ने बताया जैसा कि सब माता-पिता ने अपनी संतान को बताया, और सब केवल विश्वास करते हैं, स्वयं नहीं जानते। अपने माता-पिता को भी स्वानुभव से नहीं जानते, विश्वस्त ज्ञान सबको है।

लेकिन मुझे १६ मार्च १६६१ हमेशा याद रहेगी क्योंकि उस दिन मैं अचानक एक घण्टे के अन्दर अधमरा हो गया था, उस दिन मेरी मृत्यु आरंभ हुई थी, और धीरे-धीरे आधी मौत इक्कीस दिन के भीतर कभी भी किसी भी समय होनी थी। मुझे फाँसी या मृत्यु-दण्ड नहीं सुनाया गया था, मैंने कोई अपराध नहीं किया था, राजद्रोह, राष्ट्र विरोधी षड्यन्त्र अथवा किसी की हत्या नहीं की थी, आत्महत्या का प्रयत्न भी नहीं किया था। मैं गाँव से तीन मील दूर जंगल, अपनी खेती-बाड़ी से संबंधित एकान्त झोपड़ी को जा रहा था, करीब एक फर्लाङ्ग रह गया था कि मेरे पाँव लड़खड़ाये। मैंने समझा कि भूचाल हो रहा है, इसका निश्चय करने मैं कुछ कदम चलकर रुक गया। भूकम्प नहीं था, मैं यथावत् चलने लगा। कुछ पग चलकर पुनः लड़खड़ाने लगा, परन्तु सँभलकर धीरे-धीरे झोपड़ी पहुँचा और बाहर पड़ी खाट पर लेट गया। कुछ मिनट पश्चात् स्वस्थ हो पुनः अपने भाई के पास एक पेड़ के नीचे गया, तो फिर लड़खड़ाया और जाकर पेड़ के नीचे बैठ जाना पड़ा। पाँवों में कोई अनायास अदृश्य क्रिया, ऊपर की ओर चढ़ती हुई अंग को प्रभावित कर रही थी—शून्यवत्।

मैंने भाई को काम से रोक कर, तुरन्त साइकल पर गाँव को जाने और मेरी लिखने-पढ़ने की सन्दूक लाने को कहा, कि शायद अकस्मात् मेरा अन्तिम समय आ गया, मुझमें कुछ अदृश्य क्रिया होकर प्रभावित कर रही है, शायद तुम्हारे लौटने तक मैं खत्म न हो जाऊँ, ऐसा मुझे आभास हो रहा है। मैं कुछ लिखना चाहता हूँ। भाई साइकल पर रवाना हो गया।

मैं बैठे-बैठे उस प्रभाव से लुढ़क गया। मेरा एक दाहिना पाँव बेकार हो गया, और मैं बैठे-बैठे एक किसान पिता-पुत्र से बात कर रहा था। वे दौड़कर खाट लेने जावें इतने में मेरा धड़ भी बेकार हो गया, और गाँव से भाई के लौटते समय तक हाथ भी बेकार हो गया, मुझे पिता-पुत्र ने उठाकर मुर्दावत खाट पर लिटाया, अब जबान भी लड़खड़ाकर वाणी अस्पष्ट तुतली हो गई। भाई आया तो मैं कलम न पकड़ सका। मैं अब समझा कि मुझे लकवा—पक्षाघात हो गया। हाथ पाँव जिव्हा से, चलने फिरने बोलने, जोर से चिल्लाने से अपंग लाचार हो गया। हर एक स्वाभाविक क्रिया के लिए गोद के बच्चे के समान लाचार आश्रित हो गया। मेरी आँखें लाल हो गईं, खून उतर आया आँखों में। प्रातः काल आठ बजे मैं आया था, भूखा आया था, परन्तु अब भूख, शौच, मूत्र की सूचना सब गायब हो गये। स्टीड मैन्स मेडिकल डिक्शनरी में इस उग्र उत्कर्ष पक्षाघात के विषय में लिखा—

Acute Ascending Paralysis- A paralysis of rapid course beginning in the legs and involving progressively the trunk, arms and neck, ending usually in DEATH from ONE to three weeks.

अब मौत के मुँह में—

अर्थात् इस पक्षाघात का उग्र प्रभाव पाँवों में होकर ऊपर को बढ़ता हुआ धड़, भुजा और गर्दन में होता है जिसमें एक सप्ताह, तीन सप्ताह के भीतर मृत्यु हो जाती है। (कोई बचता नहीं, अच्छा नहीं होता, कोई दवा नहीं है।)

मैं बेहोश नहीं हुआ। मैं स्वस्थ दशा में आया था। मुझे रक्तचाप (ब्लड प्रेशर आदि, हृदय, फेफड़े की कोई बीमारी नहीं थी। मैं कोई व्यसन—नशा, चाय, बीड़ी-सिगरेट, शराब नहीं पीता था, न कभी इसका स्पर्श किया। मैं सदा सात्विक शाक-दुग्धाहारी रहा हूँ, फिर मुझे यह रोग क्यों? मैं किसी दवा का भी आदी न था, संयमी रहा हूँ। शायद यही कुछ अनुभव देने के लिए, यह रोग मेरी परीक्षा—दृढ़ता के लिए आया था।

अब दौड़-धूप होने लगी, लोग दूर-दूर से मुझे देखने आते, सलाह देते—अमुक व्यक्ति के पास खास बनाया हुआ तेल है, मालिश करो, अस्पताल (दूर) ले जाओ, डाक्टर को बुलवाओ, दवा मँगवाओ, कबूतर खाओ, इत्यादि। 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे।'

पास ही घर जाने को राजी न हो, मैं उसी पेड़ के नीचे रहा। कुछ नींद आई, और तभी स्वप्न देखा कि मैं मर गया हूँ। लोगों ने मेरी लाश की ठठरी बाँधी, और मैं भी लाश की बरात के साथ अदृश्य हो चला। मेरी लाश को चिता पर रखकर आग लगा दी और मैं धुँए के साथ वायुरूप हो आकाशवत् व्यापक हो गया। अहंकार स्वप्नवत् बाकी था, पार्थिव स्थूल इन्द्रियाँ न होते हुए भी मैं पृथ्वी पर की सब बातें रेडियो टेलीविज़न की भाँति बिना आँख-कान सब देख सुन जान रहा था। फिर क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते हुए मैं अहंकार से विमुक्त हो असीम अनन्त आकाशवत् चेतन उज्ज्वल आलोक में पहुँच प्रकाशवत् व्याप्त अनुभव करने लगा। वहाँ मैं एक स्थूल या सूक्ष्म व्यक्ति नहीं, समष्टि था जिसमें सब विश्व समाया था और जो सब परमाणु में 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' में ओत-प्रोत था।

सहसा नींद खुल गई। मैं मरा नहीं था, मरने का इन्तजार अब होश में सतर्कता से कर रहा था। परन्तु क्या मरने पर ऐसा ही होता है? पहले से, बिना मरे, कौन जाने। यह तो स्वप्न था। जागने पर हमें स्वप्न याद रहता है क्या सो जाने पर अथवा स्वप्न में जाग्रत के व्यवहार याद आते हैं? कभी आपने विचार किया है? मृत्यु के बाद स्वप्न का व्यक्तित्व 'अहम्' ही होता है क्या? अस्तु।

अपनी जाँच—

इसके दूसरे दिन मैंने गाँव से अपना सब सामान मँगाया, कि मरने से पहले सब खोलकर बता दूँ, सौंप दूँ। ओह! स्वयं को अमर समझ मनुष्य दस हजार वर्ष जीने का दुनिया भर का सामान अपनी रुचि और घनिष्ठ आत्मीयता से संग्रह करता है और आज संसार मिट्टीवत् और सब आत्मीयजन निःसहाय निरर्थक हो रहे हैं। और तो और, मेरे शरीर के अंग भी मेरी आज्ञा नहीं मान रहे, हाथ, पाँव, वाणी भी। मैं चल फिर बोल भी नहीं सकता। शरीर में कहीं किसी प्रकार की पीड़ा नहीं थी, केवल शरीर मुर्दावत्, शून्य, निर्जीव था। मेरे हाथ-पाँव को कुल्हाड़ी से काट दो, चाहे भट्ठी में झोंक दो, मैं देखकर भी कुछ न कहूँगा, ये मेरी देह में जुड़े हुए थे, पर मेरे नहीं थे।

आज मैंने स्टेथोस्कोप (Stethoscope) से अपने वक्षःस्थल की, हृदय और फेफड़ों की

जाँच की। हृदय और बायाँ फेफड़ा जोर से धड़कन धौंकनी धौंक रहे थे परन्तु दाहिना फेफड़ा चुप था। लकवे के प्रभाव से आधा धड़ का अंतरंग भी मर गया था। (शरीर में सब अंग दो का जोड़ा होकर, चार भाग बनकर परस्पर जोड़ गये हैं। विषम पक्षाघात में (Cross Paralysis) से मालूम होता है कि बायें हाथ और दाहिने पाँव आदि का भी पक्षाघात होता है।) इसलिए भूख, शौच, मूत्र भी न मालूम होता था। एक बायें किडनी (Kidney) से मूत्र बनता वह इकट्ठा होकर भी देर से उतरता। मैं लेटा हुआ, बायें अंग से उठकर बैठने का प्रयत्न करूँ तो लुढ़क जाऊँ। इस आधी जिन्दा दशा से तो मर-मिटना अच्छा था।

इलाज का नतीजा

डाक्टर, दवा, अस्पताल जाने की बातें बिलकुल न जँचीं। डाक्टरों को लकवा की चिकित्सा कुछ भी नहीं मालूम। वे मुर्दे चीर-फाड़कर, पुस्तकें पढ़कर, अपने गुरुओं से सीखे हैं, और अन्दाज की सूझ से रोगी की दुर्दशा करते हैं। मेरे पिता को ठण्डकाल में वर्षा से भीग कर ठण्ड लगी थी। तीस साल तक डाक्टर लोग बीमारी न पहचान पाये, सिर्फ अन्दाज से दवाएँ देते रहे और अन्त में उन्हें पक्षाघात Paraplegia हो गया, और न जाने कब एक रात वे चल बसे।

सन्त नागरजी के मित्र थे डाक्टर! निकट घनिष्ठ सम्पर्क में रहकर देखा जाना है, डाक्टर उन्हें अनेक दवाइयाँ बताते, देते रहे तीस साल तक, और यह क्यों न माना, कहा और समझा जाय कि सब डाक्टर उनकी तकलीफ को न समझ सके, अन्दाज से दवाएँ देते रहे, और उनकी कोई भी पीड़ा दूर न होकर, उन्हीं जहरीली, नाक को नापसन्द जघन्य दवाओं से ही रक्तचाप, रक्तहीनता, पक्षाघात भी हुआ, और किसी दवा से फायदा होने के बदले नुकसान ही होते थे तथा प्राणान्त समय वे देख-बोल-सुन भी न सकते थे, तथा उनका शरीर बिस्तर पर से चार इंच ऊँचा उछलता था, और ऐसी दशा में डाक्टर (विलायत-पास) ने इलाज के नाम पर उनकी रीढ़ में सुई कई बार चुभाकर उनकी बेहोशी में उनकी रीढ़ का रस निकाला। किस लिए? बड़े-बड़े डाक्टर रोगियों के इलाज के दौरान में उनके शरीर में से इलाज या जाँच के नाम पर अपना प्रयोग कर अनुभव बढ़ाने, उसका रक्त, रस निकाला करते हैं और उससे प्रयोगिक दवा बनाकर दूसरे रोगियों पर आज्मा कर अपने अनुभव डाक्टरी अखबारों में प्रकाशित किया करते हैं, महान् बनने की आकांक्षा से ही, वे ऐसा करते हैं। शायद उन डाक्टर ने भविष्य के अन्य पक्षाघात के रोगियों के लिए उस रस से कोई इंजेक्शन (Anti-Toxin serum) बनाया हो।

नागर जी मरने लायक न थे, मुझे कहना पड़ेगा कि आधुनिक डाक्टरी अंधजाल में हम सब लोग अंधे होकर अपने आत्मीय की जान की लालच में डाक्टरों को इलाज के लिए अंधविश्वास से सौंपते और इलाज के नाम पर जहरीली दवाओं और घातक अंधप्रयोगों से, स्वयं न मारकर डाक्टर के गुट से दुर्दशा कर मरने देते हैं। डाक्टरों ने क्या दिया, क्या किया—हम उसे उपकार मानते हैं, हत्या का आरोप नहीं लगाते हैं। लगावें भी, तो उसका प्रमाण नहीं दे सकते। कोई डाक्टर, डाक्टरी नीति के अनुसार, किसी डाक्टर के विरुद्ध गवाही देने को तैयार नहीं होता।

अपने घनिष्ठ सम्पर्क में दवाओं को रोग वर्द्धक और डाक्टरी जंजाल को घातक जान मैंने किसी की सलाह न मानी। मैंने स्वयं भाई की सहायता से अपना इलाज किया।

नागर जी का बिलकुल डाक्टरी इलाज न किया गया होता तो आत्म संयम और शुद्धि से वे आज जिन्दा हमारे सामने होते!

मौत का स्वागत—

खाओ या न खाओ, इलाज करो या न करो, मुझे तो डाक्टरी शब्दकोष के अनुसार इक्कीस दिन के भीतर किसी दिन-रात, किसी समय मरना निश्चित था, मानो बिना तारीख-समय की फाँसी का हुक्म सुनाया गया हो। अतः मैंने न कुछ खाने का, न कोई इलाज करने का, निश्चय किया। केवल गरम पानी पीता।

माता-पिता ने स्वस्थ शरीर को जन्म दिया था। हम लोग प्रायः स्वस्थ ही जन्मे हैं, जन्मते हैं, अतएव रोग से क्यों मरें? स्वस्थ सहज दशा पूर्णायु होकर क्यों न मरें? मौत के सामने सिफारिश, खुशामद नहीं चलती। मरना अवश्य है, बच नहीं सकते। जीवन-यात्रा पूर्ण हुई, उतरो संसार की गाड़ी से।

भूख, कहिए कि आधा श्वास यन्त्र और पाचन-प्रणाली भी मर चुकी थी, इसलिए भोजन भी शरीर में अर्ध बोझ बढ़ावेगा, और श्वास के लिए बनावटी प्राणवायु—आक्सीजन भी दी जाय तो वह काम नहीं आवेगी। मुद्दई सुस्त, गवाह चुस्त, की बात यहाँ जँचती है, कि जो फेफड़ा लकवे के प्रभाव से सब अंगों के साथ निर्जीव है वह प्राणवायु लेता ही नहीं, ऐसा होता तो मुर्दे में प्राणवायु क्यों भरकर नहीं जिन्दा कर लेते? दर असल, फेफड़े को अन्तरंग अपने साधन से, अपनी प्राणवायु से चलाना चाहिए।

अतएव शरीर में कचरे के भार चाप को जल के साधनों से रोज दूर कर, मैंने दाहिने फेफड़े पर दूसरे दिन से प्रयोग आरम्भ कर दिया। रात को बायाँ श्वास बन्द करके दाहिने से प्राणायाम आरंभ किया। बड़ा कठिन कार्य था यह। मरते मरते यह मेरा अन्तिम कठोर साधन था, मृत्यु के स्वागत में। किसी दूर देश के बादशाह या महापुरुष के स्वागत में शहर की सफाई होती है, गली गली, न मालूम कहाँ मेहमान की नजर पड़ जाय और देश की बदनामी हो जाय।

फिर मृत्यु तो सबका आखिरी, सबसे बड़ा मेहमान, दुनिया के सभी छोटे बड़े प्राणियों का बादशाह है, अतः मैंने कायानगरी की कण कण, हरेक परमाणु कोष की शुद्धि करने सुखाने के लिए लगातार गरम पानी से मुख और गुर्दा द्वारा, तथा चर्मशुद्धि भी गरम पानी में डूबे रह कर, अपने भाई की सहायता से मृत्यु के स्वागतार्थ करना आरंभ किया।

साथ साथ, मृत्यु समय होने वाली हरकतों से भी सबको आगाह कर दिया कि मेरे मरते समय मुझे हिलाना-डुलाना, दबाना-रोकना, खिलाना-पिलाना, कुछ मत करना, इससे बेहोशी में कष्ट होगा। मरने में बाधा पड़ेगी, कष्ट से मृत्यु होगी। लोगों को यह बात बड़ी विचित्र लगी।

संघर्ष—

तीन रात भर बायाँ श्वास बन्द कर दाहिने से प्राणायाम द्वारा, पाचवें दिन स्टेथोस्कोप से दाहिना फेफड़ा चालू मालूम हुआ, आँखों की लाली भी साफ हो गई, और जहाँ हाथ पाँव कुल्हाड़ी से काटने भनने से भी कुछ न मालूम होता वहाँ अब उस दाहिने पाँव के अँगूठे और पाँव में मक्खी बैठने का आभास मुझे होने लगा। दाहिने अंग में ग्रंथियों (Lymphatics) के संवेदन स्पंदन कम्पन के अनुभव सारे शरीर में रोज रात दिन, विशेष कर सोते समय ऐंठन और खींचतान (Convulsive stretching and strain) अपने आप आरंभ होकर व्यापक होकर बढ़ती गई, ज्यों ज्यों प्राण संचार और रक्त संचार होता गया। क्रमशः यह होते कालान्तर से यह क्रिया लुप्तप्राय चलती रही। मेरा दाहिना श्वास करीब एक मास से अनियमित था, बन्द सा था, यही लकवे का कारण था। वैज्ञानिक इस बात को नहीं मानते।

मैं आठवें दिन काँपते काँपते खाट से उतर कर जमीन पर पाँवों से खड़ा हो गया। उसी दिन तीन बैंकों से स्वयं लिख कर हस्ताक्षर

कर कार्यवाही की। शहद खरीदने को डेढ़ सौ रुपये का चेक भी दिया जो 'कैश' हो गया। बारहवें दिन में दो सौ गज, अर्थात् एक फर्लाङ्ग लगभग अपने पाँवों से डगमगाते चला। अभी भी केवल गरम पानी पीकर आत्मशुद्धि करता मौत का इन्तजार करता रहा, अभी नौ दिन की अवधि इक्कीस दिन में बाकी थी। अवधि पूरी हो गई उसके बाद भी इंतजार किया, किन्तु मौत न आयी।

गन्दे, विष-विकार भरे घर में—देह में ही रोग होता और इलाज के नाम पर अधिक विष भर कर मौत आती है। शुद्ध, निर्मल देह या घर में न रोग होता, न मौत आती है।

फिर मैं गरम पानी में शहद घोल कर पीने लगा, कच्ची भाजी साग चबाने लगा। होते होते महीना पूरा हो गया। अब मैं दो मील चला गया। पहले भूख या रुचि न थी, भोजन की बात से घृणा होती, अब रुचि शुद्ध हुई तो एक रोटी खाने लगा, कुछ फल भी। कुछ दिन बीते, परन्तु अब भी कमजोरी थी।

अब—

एक महीने के उपवास-शुद्धि में शरीर सूख कर कंकाल हो गया था, यद्यपि उठता-बैठता, चलता-फिरता, लिखता-पढ़ता और अन्य कामों को स्वतन्त्रता से निर्बाध करता था। नाई ने एक बार हजामत बनाई, शेष दिन में स्वयं बनाता रहा, धीरे-धीरे और कुशलतापूर्वक।

अब मैं आध मील दूर एक आम के नीचे डेरा ले गया। चार पेड़ आम थे, लेकिन एक ही पेड़ आधा फला था। वहाँ पेड़ के आम की रक्षा में आवश्यक दौड़धूप से अनायास व्यायाम होगा, एकान्त मिलेगा, इसी विचार से वहाँ गया। पशु आते, उन्हें किसी प्रकार खदेड़ लेता, आम गिरते, उन्हें उठाता, लोग आते, उन्हें विनयपूर्वक तोड़ने से रोकता। एक सौ पाँच वर्ष तक आम नहीं पकने पाया, लोग लावारिस जान यों ही मार मार पेड़ को बुड्ढा कर दिया, छोटे-छोटे आम ही मार-गिराते। अस्तु चार महीने उस पेड़ की सेवा रक्षा की तो उसने हमें फल दिये, फल से स्वास्थ्य बना। व्यायाम, योगासन, दण्ड बैठक, मुग्दर चलाना आरंभ था। १० जून १९६१ को मैंने व्यायाम योगासन आदि—शीर्षासन, पश्चिमोत्तान, सर्वांगासन, हलासन, धनुरासन, उड्डीयान, दण्ड उत्थित पद्मासन का और सत्ताईस पौण्ड का मुग्दर दाहिने हाथ एवं दाहिने पाँव से उठाकर प्रदर्शन का फोटो लिया। आने जाने वाले परिचित प्रतिष्ठित राहगीरों को दिन में चार-चार बार प्रदर्शन कर दिखाया।

परन्तु वाणी सुधर कर भी लकवे के प्रभाव से आवाज मन्द और कुछ शब्द अस्पष्ट थे। इसके लिए मैं शंख बजाने लगा। अब भी व्यायाम करता हूँ। खूराक कुछ बढ़ी है, शरीर पर रक्त-मांस भी बढ़ा है, वाणी मन्द गति से स्पष्ट हो रही है। मैं अभी प्रति दिन दो सेर दूध पीता और एक पाव अन्न खाता हूँ। मैं जिन्दा हूँ। मैंने जीवन का यह विकट संघर्ष किया है। दवा, डाक्टर को कोई पैसा नहीं दिया, स्वयं भी कोई दवा नाम की चीज नहीं बनाई, और न खाई। मैंने संयम से सब कुछ किया है। संयम ही सब दवा की एक दवा है। विज्ञान की प्रचलित दवाएँ घातक, और अन्धविश्वास मात्र हैं, विज्ञान विकृत ज्ञान है, इसमें विशेष ज्ञान नाम से कुछ भी मान्य नहीं है कि इस पर विश्वास किया जा सके, अन्ध-विश्वास भले ही किया जाय। अधिकारी अनुभवियों के लिखे सब डाक्टरी साहित्य को देखने से, और साक्षात् दवा सेवन और कारीगरी से स्पष्ट होता है कि यह सब घातक धोखा-धन्धा की अनेक प्रकार की दवा वाली पद्धतियाँ रोग को बढ़ाने वाली हैं। रोग को दुश्मन समझ हम उनको विषों, उग्रतर विषों से युद्ध कर नष्ट करने का प्रयत्न कर रोगी को ही नष्ट कर देते हैं।

ऐसे घातक विज्ञान और चमत्कारी दवाओं से बचकर संयम करना अच्छा है। आत्मशोधक संयम, और परिश्रम से रोग नाश और स्वास्थ्य मिलता है। Healing and health demand Hygenic purity and self effort.

हँसना-रोना—

जिस दिन लकवा हुआ, उस दिन तथा बाद में लोग जब मुझे देखने आते तो अनायास मैं बालकवत् देर तक रोता रहता, रोने से मुझे हल्कापन मालूम होता। जम्हाई भी दिन-रात अक्सर आती रहती।

हम लोग बचपन में रोते हैं, फिर ज्यों-ज्यों बड़े होते हैं, रोना स्वाभाविक भूलकर हँसते-खेलते हैं, और भी बड़े होकर हँसना-रोना दोनों भूल कर व्यवहार के जंजाल में फँस जाते हैं। शिक्षा-संस्कार से, हँसने-रोने का मौका आवे तो आवेश को दबा देते हैं, गंभीरता धारण करते हैं। अपनी प्रकृति को दबा कर, दमन कर उस पर विजय प्राप्त करना इसी का नाम है जो डाक्टरी सिद्धान्त के अनुसार प्रवृत्ति का दमन करने से अनेक गंभीर रोग कालान्तर से उत्पन्न करता है। जो व्यक्ति हमेशा ईर्षा, द्वेष, घृणा, क्रोध करता है, हँसता-रोता नहीं, उसके भीतर ये नये-नये रोग पैदा करते हैं, हृदय रोग, कहीं किसी प्रकार का दर्द, घाव पैदा कर देता है जो दवा से नहीं अच्छा होता।

मैं तो इस बात पर रो देता कि मैं कैसा था, और अभी एक घण्टे में कैसा अपंग हो गया। मेरी हँसी-मुस्कराहट गायब थी।

जब आठ दिन में मैं खड़ा हुआ तो स्वाभाविक तनिक प्रसन्नता से मुस्कराया। एक महीने तक इस प्रकार किंचित एकाध बार स्वयं मुस्कराता। फिर इसी क्रम से हँसी आरंभ हुई। अच्छा होकर चलते-फिरते, व्यायाम करते, खाते-पीते जिन लोगों ने मुझे न देखा था, उनसे मुलाकात होती तो पुनः रुदन होता कि ओह! मैं कैसा अपंग मुर्दार हो गया था और कितने संघर्ष से अच्छा हो जीवित बच गया, इस आश्चर्य से रोना आता। कुछ दिन बाद रोना बन्द हुआ और हँसना आरंभ हो गया।

लकवा मुझे क्यों हुआ?

मैं लिख चुका हूँ मैं स्वस्थ था, कोई हृदय, रक्तचाप आदि की बीमारी न थी, कोई व्यसन न था, दवासेवी मैं न था, फिर मुझे लकवा क्यों अचानक राह चलते हुआ! बहुत दिनों से मेरा दाहिना श्वास अनियमित था, नहीं चला था, इसका मुझे पूर्वाभास हुआ था और मैंने प्रयत्न भी किया था परन्तु विशेष प्रयत्न नहीं किया। वैज्ञानिक लोग श्वास के संबंध में ऐसा कोई विचार नहीं करते। उनके शरीर-शास्त्र और विज्ञान में स्वर चलने विषयक किसी कोश अथवा शरीर विज्ञान की पुस्तक में इस विषय में मुझे कुछ विशेषता लिखी नहीं मिली। श्री हैरी राबर्ट्स Harry Roberts की लिखी "मानव शरीर रहस्य" Miracle of Human Body में नासिका को दो भागों में बाँट दिया बताया गया है जिनमें से क्रमशः श्वास द्वारा वायु जाती है। इनको नासिका-नथने और वायु से ही तात्पर्य है।

योग शास्त्र में स्वर विज्ञान के साधकों को ज्ञात है कि इनकी गति तिथि अनुसार सूर्य-चन्द्र से नित्यप्रति प्रभावित होती है। अन्यथा वैज्ञानिक लोग केवल गरमी या ठण्ड में बायाँ या दाहिनी नासिका दो महीने बन्द कर केवल एक नथुने से श्वास लेकर प्रमाण ले सकते हैं कि क्या रहस्य है। यदि श्वास में कोई रहस्य नहीं तो दोनों नथुनों से गति बदलती क्यों रहती है, तथा अल्पकाल दोनों से क्यों चलती है? भिन्न भिन्न ऋतु, कार्य और शरीर की स्थिति में श्वास बदल जाता है, तथा उसको फिर जान-बूझ कर बदलना क्यों कठिन हो जाता है, वैज्ञानिक बतावें?

डेढ़ मास तक एक नथुने से श्वास चलना घातक होता है, यह असंयम से होता है। पूर्वाभास होने पर पहले सुधार कर लेने से जान बच जाती है। अन्यथा शिरः पीड़ा या पक्षाघात, दाहिने या बायें की विषमता से होते हैं। इसी प्रकार मुझे यह घातक रोग हुआ था।

नोट—श्री वर्मा जी को रक्तचाप की बीमारी हुई एवं उनको इसी रोग से पक्षाघात हुआ था।

—संपादक

एक कल्याणकारी मंत्र

श्री बृजबिहारीलालजी कपूर

"इन्द्रंश्च मृडयाति नो, न नः पश्चात् अघंनशत्।
भद्रं भवाति नः पुरः॥ ऋ० २.४१. ११॥

भाइयो! इसमें सन्देह नहीं है कि इन्द्र भगवान तो हमें सदा सुख ही दे रहे हैं, निरन्तर हमारा कल्याण ही कर रहे हैं। फिर भी जो असुख हमारे सामने आता है, अर्थात् हमें दुःख देखना पड़ता है, उसका कारण यह है कि हमने अपने पीछे पाप को लगा रक्खा है। पाप का परिणाम दुःख होना अटल है, अनिवार्य है। यदि हमारे पीछे पाप न लगा हो तो हमारे सामने भद्र ही भद्र आता जावै। जब हम कोई पाप करते हैं तो हम समझते हैं कि वह वहीं समाप्त हो गया। अब उसका हमसे कुछ सम्बन्ध नहीं रह गया। इस तरह हम पाप करके आगे चलते जाते हैं, और चाहते हैं तथा आशा भी करते हैं कि आगे-आगे हमारे लिए भद्र ही भद्र आता जाय। पर हमें यह मालूम होना चाहिए कि हमारा किया हुआ पाप चाहे हमारी आँखों के सामने न हो, पर वह नष्ट भी नहीं होता है। वह तो हमारे पीछे लग जाता है और तब तक हमारा पीछा नहीं छोड़ता जब तक कि वह हमारे आगे अभद्र, अकल्याण व दुःख के रूप में आकर हमें फल नहीं भुगा लेता। अतः याद रखिए कि हमें न दिखाई देता हुआ, हमारे पीछे रहता हुआ ही हमारा पाप एक दिन हमारे आगे अभद्र व क्लेश के रूप में आता है, और अवश्य आता है, जैसे कि हमारा हर एक पुण्य भी पीछे रहता हुआ, दिखाई न देता हुआ एक दिन हमारे आगे भद्र के रूप में आता है।

यह हमारी कितनी मूर्खता भरी इच्छा है कि हम चाहते तो यह हैं कि हमारा सदा भला ही होवे हमारे सामने सदा सुख, स्वास्थ्य और समृद्धि आदि ही आते जायँ, पर साथ ही हम पाप करना भी नहीं छोड़ना चाहते।

भला यह कैसे हो सकता है। हमारे पीछे तो हमारा नाश करता हुआ, हमारा पाप चल रहा होता है और हम मूर्खतावश यह आशा करते होते हैं कि हमारे सामने सुख आता होगा। यह असम्भव है।

अतः आओ, आज से हम कम से कम आगे के लिए पाप करना तो सर्वथा त्याग दें। यदि हम विशेष पुण्य नहीं भी कर सकते तो कम से कम इतना तो संकल्प कर लें कि "हम अब से एक भी पाप अपने से न होने देंगे।" इतना करने से भी इन्द्र भगवान की दया से हमारे शीघ्र ही सुदिन आ जावेंगे। पाप का पीछा छूट जाने से भद्र के लिए मार्ग साफ हो जावेगा। पर हम यदि इतना भी न कर सके तब तो इन्द्रदेव की सुख व कल्याण की वर्षा में रहते हुए भी हमारे भाग्य में तो दुःख ही दुःख रहेगा।

रामराज्य की कल्पना

श्री सूरज प्रकाश कपूर

गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरित मानस में रामराज्य का विवरण दिया है। श्री रामचन्द्र जी के शासन में प्रजा सर्वप्रकार से सुखी थी और सब लोग धर्मपरायण थे। रोग, शोक, मोह, आदि लेशमात्र भी न थे। सुन्दर दुकानें बहुमूल्य पदार्थों से भरी थीं और इच्छानुसार बिना मूल्य दिये जो भी वस्तु ले ली। सब लोग सुशिक्षित और सदाचारी थे। सबका परस्पर प्रेम था और कोई शत्रु न था। वृक्ष फलों से लदे रहते थे। मेघ प्रार्थना करने से आवश्यकतानुसार जल बरसाते थे।

दैहिक दैविक भौतिक तापा।
राम राज नहिं काहुहि व्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती।
चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती।

इस प्रकार रामराज्य में दो विशेषताएँ थीं। एक यह कि लोगों का आचार-व्यवहार शुद्ध था और किसी की पाप-कर्मों की ओर प्रवृत्ति न थी। दूसरी विशेषता यह थी कि लोग अत्यन्त सुखी थे और दुःख का अभाव था। यथार्थ यह है कि सुखी होने के लिए सदाचारी होना आवश्यक है। सिद्धान्त भी यही है।

जथा धर्म सीलन्ह के दिन सुख संजुत जाहीं॥

गांधी जी का लक्ष्य रामराज्य की स्थापना था। रामराज्य से उच्च कोई भी कल्पना एवं उद्देश्य नहीं हो सकते। यदि रामराज्य के लिए यह आवश्यक हो कि श्री रामचन्द्र जी राजा हों तो इसकी पूर्ति त्रेतायुग में ही संभव है अन्य युगों में नहीं। वैसे अव्यक्त राम का शासन सदैव ही रहता है। सारी सृष्टि ईश्वर के आधीन है। वह सर्वव्यापक, सर्वान्तरयामी और कर्मफलदाता है। क्या कारण है कि अव्यक्त रूप में राम के शासन में लोग सुखी नहीं हैं और रामराज्य की स्थिति सदैव क्यों कर नहीं बनी रहती।

रामराज्य के समय भगवान प्रत्यक्ष थे। सम्पत्ति के स्वामी के समक्ष उसकी वस्तुओं की कोई चोरी नहीं करता और पुलिस कर्मचारी के सामने कोई ऐसा दुराचार नहीं करता जिससे कि पकड़ जाने की संभावना हो। इस प्रकार दंड के भय से आचार में उचित अनुचित का विचार स्वत: उदय हो जाता है। पापकर्मों से जो हानि होती है और दंड मिलता है उसका विस्मरण करके ही दुष्कर्मों में रुचि होती है। दूसरी ओर शुभ कर्मों से होने वाले लाभ में शंका की भावना होने के कारण पुण्य कर्मों की ओर प्रवृत्ति नहीं होती। भगवान के प्रत्यक्ष होने पर जीवन के विषय में शंका नहीं रहती। सदाचार और धर्मपरायणता में लाभ प्रत्यक्ष प्रतीत होता है और विपरीत आचरण में हानि। रामराज्य में राम के प्रत्यक्ष होने के कारण लोगों में ईश्वर विश्वास था। लोगों में राजा के प्रति श्रद्धा थी।

इसके विपरीत आज कल अराजकता है। सर्वोपरि शासक अव्यक्त राम के आदेशों का सर्वत्र उल्लङ्घन हो रहा है। रामराज्य की स्थिति प्रत्येक युग में बन सकती है और यह निर्भर है लोगों के आचार-व्यवहार और उनकी मति के ऊपर। यदि सब लोगों का यह विचार हो जाये कि वास्तव में ईश्वर ही शासन कर रहे हैं, हम सर्वगुणों के सागर और सर्वशक्तिमान् राजा की प्रजा हैं, हमें राजा का प्रिय बनना है और राजा की प्रसन्नता ही अभिमत है तथा तदनुसार हम बर्तें भी तो वह समय रामराज्य ही होगा।

क्या रामराज्य के लिए प्रशासन का ढांचा सम्राटवाद का होना ही आवश्यक है अथवा इसके लिए प्रजातंत्र, साम्यवाद आदि का ढांचा

अधिक अनुकूल होगा। यथार्थ यह है कि रामराज्य के लिए प्रशासन के ढाँचे का कुछ भी महत्व नहीं है। मानवीय वैयक्तिक दोषों के कारण ही प्रशासन के ढाँचों में विकार आ जाते हैं। यदि सभी लोग दैवी सम्पद् वाले हों तो प्रशासन किसी भी ढंग का हो सकता है। रामराज्य की विशेषता यह है कि शासक प्रशासन का कार्य अपनी स्वेच्छानुसार एवं अपनी बुद्धि के अनुसार नहीं करता। वह अपने आपको स्वामी न मानकर सब का सेवक समझता है और प्रजा के हित के लिए सब कुछ त्याग सकता है। वह राजकीय कार्य शास्त्रानुसार उचित ढंग से करता है। ऐसे समाज में सर्वोच्च स्थान होता है महान् गुरुजनों और वशिष्ठ जी के समान ऋषियों का जिन्हें पूर्ण ज्ञान प्राप्त है। राजा अपनी बुद्धि को अल्प समझकर महापुरुषों के आदेशों पर चलता है।

रामराज्य के लिए यह भी आवश्यक नहीं है कि लोग किसी विशेष धर्म संस्था के हों। रामराज्य में सभी धर्म के लोगों के लिए बराबर स्थान है। उस स्थिति में सब धर्म एक हो जाते हैं। सब धर्मों का निचोड़ है आस्तिकता अर्थात् भगवान् के विचार से जीवन यात्रा पर अग्रसर होना।

सोइ प्रीतम सेवक मम सोई।
मम अनुशासन माने जोई॥

इस प्रकार ईश्वर का अनुशासन मानकर जो बर्तता है उसके लिए रामराज्य की ही स्थिति बन जाती है।

आज का मानव संसार स्वार्थ, अहङ्कार, द्वेष, हिंसा और परिग्रह की परिपाटी को अंगीकार किये हुए है। रामराज्य के समय निःस्वार्थता, विनम्रता, दया, प्रेम, त्याग, सेवा आदि की भावनाओं से लोग प्रेरित रहेंगे। यहाँ शंका हो सकती है कि क्या सात्विक भावनाओं से संसार का व्यापार ठीक ढंग से चल सकता है? ऐसी शङ्का का होना स्वाभाविक है क्योंकि हम तमोगुण और रजोगुण से ऊँचे उठे हुए मनुष्य की कल्पना नहीं कर सकते। परन्तु जब भी तप और साधन के द्वारा मनुष्य जाति ऊँची उठेगी तो ऐसी शङ्काओं का आधार नहीं रहेगा। संसार के चलाने के लिए कुछ प्रेरणा अवश्य होनी चाहिए। इस समय व्यापारी का प्रयत्न है कि ग्राहक से अधिकाधिक लाभ उठावे। तब व्यापारी की चाह होगी कि अन्य लोग उसकी वस्तुओं को अधिक से अधिक प्रयोग में लावें। लोगों में त्याग की भावना होगी। जो वस्तुएँ अत्यावश्यक होंगी उन्हीं का प्रयोग करेंगे। प्रत्येक मनुष्य का लक्ष्य होगा कि वह अधिक उत्पादन करे और समाज की संपत्ति को बढ़ावे तथा अपने निर्वाह के लिए अपनी आवश्यकताओं को कम करे। इस दृष्टिकोण से और तदनुसार व्यवहार से यथार्थ सुख मिलेगा। इस प्रकार संतुलन बना रहेगा और रामराज्य की सही अनुभूति होगी।

आप स्वस्थ कैसे रह सकते हैं?

डॉ० सी० बी० झा

भोजन में मुख्यतत्व की दृष्टि से आजकल विटामिन या "जीवनतत्व" की खोजकर नवशिक्षितों को विशेष रूप से चकित कर दिया है। और यह ठीक भी है कि जैसे बोलने वाले के बेर भी बिक जाते हैं; उसी प्रकार इस प्रचार युग में उनको विशेष महत्व भी प्राप्त हो गया है। किन्तु यथार्थ में यदि देखा जाय तो खनिज पदार्थों में जो क्षार-तत्व रहते हैं, अर्थात् चूना, (केल्शियम), आयरन (लोहा), फास्फर (ताँबा), क्लोरिन, आयोडीन, सल्फर (गन्धक), मैंगनीजियम, पोटाशियम और सोडियम, ये क्षार ही पाचकाग्नि को बल देते हुए रस-रक्त बनाने में

सहायता करते हैं। ये खनिज किन-किन पदार्थों में किस मात्रा में पाये जाते हैं, यह तो विस्तार से जानने के लिए रासायनिक एवं भौतिक विज्ञान के ही सहारे ज्ञात हो सकेगा; किन्तु विटामिन (जीवनीय तत्व) अवश्य संक्षेप में बतलाये जा सकते हैं।

मुख्य रूप से तो विटामिन के पाँच ही भेद माने गये हैं; किन्तु वैसे उनकी संख्या और भी बढ़ गई है। फिर भी इनका पदार्थ रूप में दिखाई देना पंचभूतात्मक सृष्टिक्रम के अंतर्गत ही है। अर्थात् ये कोई नये आविष्कार नहीं हैं। केवल पाश्चात्य दृष्टिकोण से विचार करने वालों को आकृष्ट करने के लिए उनको अंगरेजी नाम से प्रचारित किया गया है। अस्तु।

अब आप देखिए कि किस पदार्थ में कौन सा जीवनतत्व है और उसमें क्या गुण भरे हुए हैं—

(१) विटामिन 'ए' शारीरिक विकास और नेत्रों के लिए हितकारी है। गेहूँ, दाल, शाक और सब्जी (भाजी) में यह तत्व पाया जाता है।

(२) विटामिन 'सी' रक्तवर्धक और पीलिया रोगनाशक है। यह पपीता (अरंड ककड़ी) और सूखे मेवे में प्रचुर मात्रा में मिलता है।

(३) विटामिन 'सी' मसूढ़ों और दाँत के रोगों को मिटाता है। नींबू, नारंगी और फलों के रस में प्राप्त होता है।

(४) विटामिन 'डी' केल्शियम (चूना) तथा फॉस्फरस (ताँबा) की कमी को पूरा करता है, यह घी, दूध, मक्खन आदि में मिल सकता है।

(५) विटामिन 'ई' प्रजनन शक्ति बढ़ाता है और यह षट्रस भोजन में प्राप्त हो सकता है।

सामान्यरूप से मानव की आयु का औसत ५० वर्ष भी नहीं रह गया है। इतने कम समय में किस-किस ज्ञान-विज्ञान को समझ सकता है, यह स्पष्ट ही है। प्रत्येक दिशा में सिद्धान्त और व्यवहार के अनुभव रहा करते हैं। मनोविज्ञान, तत्वज्ञान, समाज विज्ञान, जीवविज्ञान, लोहारी सुतारी आदि कितने ही विषय हैं। अतः जिस कला से अपना जीवन-निर्वाह होने लगा, वही उसकी विद्या, ज्ञान और बुद्धि के रूप में स्वाभाविक हो गई।

शरीर-विज्ञान में प्रकृतियाँ ही मूलाधार हैं। यह शरीर प्रयोगशाला की तरह है। अतः इसमें रहने वाले मल जब तक बाहर नहीं आते, तब तक इस शरीर को शुद्ध नहीं समझ सकते।

चिकित्सा रोग की हुआ करती है, भ्रम की नहीं। और यह भ्रम मन से सम्बन्ध रखता है। अतएव भ्रम की गणना मानसिक रोगों में की गई है और यह भ्रम मानसोपचार से ही दूर हो सकता है।

शरीर की तीन अवस्थाएँ हैं—बाल्यकाल, युवावस्था और बुढ़ापा। इन अवस्थाओं को भी आप वात-पित्त और कफ तीनों तत्व का मौसम या ऋतु के समत्व से समझना चाहिए। बाल्यकाल में कफ की प्रधानता रहती है, युवावस्था में पित्त और वृद्धावस्था में वात की प्रधानता रहती है। अर्थात् पुष्पवृक्ष के समान यह शरीर है, इसमें बाल्यकाल में कलियाँ आती हैं, युवावस्था में फूल खिलते हैं और बुढ़ापे में वे अपने आप वृक्ष से गिर जाते हैं। इसी प्रकार बच्चों को शीतकाल में, युवाओं को ग्रीष्मकाल में और वृद्धों को वर्षाकाल में सावधानी रखनी चाहिए। फिर भी साधारण बीमारियाँ तो सभी अवस्थाओं में होती रहती हैं। इसी प्रकार बच्चों की कुछ बीमारियाँ भी होती हैं – जैसे कि माता-चेचक निकलना, दाँत निकलते समय दस्त या ज्वर, सूखिया, डिब्बा आदि। और भी कई प्रकार की बीमारियाँ हैं। इसी प्रकार पुरुष रोग और स्त्रियों की बीमारियाँ भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं, और वे भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में होती हैं। जैसे प्रमेह, स्वप्नदोष, प्रदर, प्रसूतिका आदि।

शरीर को जब व्याधि मंदिर कहा है तो उसमें रोग होना स्वाभाविक ही है। फिर भी रोगों की उत्पत्ति दो प्रकार से हुआ करती है—आंतरिक और बाहरी। इनमें आंतरिक (भीतरी) आहार-द्वारा होती है और बाहरी विहार के द्वारा। जैसे कूदने या गिर पड़ने से चोट, मोच आ जाना, लू लग जाना, आदि। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि शरीर निरोग किस प्रकार रह सकता है, जिससे कि किसी प्रकार की व्याधि ही उत्पन्न न हो। अतएव रोगों के कारणों से सावधान रहने की ओर ही मध्यम श्रेणी के लोग विशेष रूप से ध्यान देते हैं; जब कि गरीब लोग तो प्रकृति के द्वारा ही स्वस्थ हो जाते हैं। क्योंकि गाँवों में रहने के कारण उनके पास तक कोई दवा ही नहीं पहुँच सकती। मध्यम श्रेणी के लोग भी रोग होने पर पहले गंडे-तावीज या झाड़-फूत्कार में कुछ समय निकाल देते हैं। किंतु जब रोग बहुत बढ़ जाता है; तब वे इस चक्कर में पड़ जाते हैं कि किस प्रकार का इलाज करावें—अर्थात् डाक्टरी या आयुर्वेदिक अथवा यूनानी या होमियोपैथी अथवा बायोकेमिक आदि आदि।

इनमें प्राकृतिक-चिकित्सा पंचमहाभूतों के तत्व के द्वारा की जाती है। अर्थात् पृथ्वी (मिट्टी) जल, वायु, आकाश (आशय) और तेज या सूर्य, अग्नि, प्रकाश ये ५ तत्व हैं। आकाशी तत्वों में जिन आशयों का शरीर से सम्बन्ध है, उनको खाली रखने की क्रिया से आकाशतत्व का उपयोग होता है। अर्थात् उपवास-चिकित्सा की प्रधानता से यह पूर्ण होता है।

हमारे नित्य नियम और दैनिक जीवन में एकाहार या एकादशी व्रत अथवा फलाहार आदि क्रियाएँ ऐसी रखी गई हैं, जिनके पालन से साधारण रोगों के आक्रमण से मनुष्य बच जाता है या स्वस्थ हो जाता है। घर का हाथ से बना भोजन बाहर के चाय चिवड़े या सोडा, लेमन आदि ऐसी हानिकारक वस्तुओं से लाख दर्जे अच्छा है; अतः इनसे बचना परमावश्यक है।

आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार "जायते विविधा रोगाः प्रायशो मल-संचयात्" अर्थात् अधिकांश रोग मल के संचय से ही उत्पन्न होते हैं। अतएव इस रोगोत्पत्ति के मूल कारण को जान लेने पर आप अनेक रोगों से बच सकते हैं।

जिन लोगों को साफ दस्त नहीं होता, उनका वह शेष मल थोड़ा थोड़ा करके प्रतिदिन आँतों में इकट्ठा होता रहता है और उसी से पेट में अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं। अतः पेट के साफ होने की दशा में रोग होने का कोई कारण नहीं हो सकता। इसीलिए पेट को हमेशा साफ रखिए। किसी भी रोग के उत्पन्न होने पर सबसे पहले पेट की सफाई पर ध्यान देना चाहिए।

आजकल नकली वस्तुओं के युग में कब्ज या कोष्ठबद्धता हो जाना स्वाभाविक सा है। क्योंकि किसी भी वस्तु के असली या मिलावटी होने की परीक्षा कर सकना अत्यंत कठिन हो गया है। साथ ही आयुर्वेदिक उपचार की दवाइयों को पीसना या कूटना अथवा घोटना या उबालना प्रायः सभी को कठिन जान पड़ता है, अतएव लोग बाजार से सीधी तैयार दवाइयाँ खरीद लाते हैं। और उनमें अधिकांश शर्बत के रूप में तैयार की जाती हैं, जब कि शक्कर स्वयं रोगकारक होती है। इसी प्रकार नकली या वनस्पति का जमा हुआ तैल भी घी के नाम पर खपाया जाता है और उसे साफ एवं सस्ता समझ कर प्रायः सभी खरीदते और उसे खाकर अनेक प्रकार से रोगग्रस्त हो जाते हैं। बच्चों को मैदे से बने हुए बिस्कुट, चॉकलेट, कुलफी आदि खिला कर माँ-बाप प्रसन्न होते हैं, किन्तु वास्तव में ये उनके लिए विष का काम करते हैं। अतएव स्वस्थ रहने के लिए अत्यंत सादा और शुद्ध भोजन ही काम में लाना उचित है। यही स्वस्थ रहने का सामान्य साधन हो सकता है।

"प्यारे ! ईश-चिंतन करो, आत्मिक सुख मिलेगा"

श्री लक्ष्मीनारायण 'अलौकिक'

मुझे दर्शन देने के लिए एक सज्जन मित्र पधारे हुए थे। वह आये थे यह मैं अवश्य भूल जाता यदि वह कुछ करामात न कर जाते। करामात के नाम पर उन्होंने ऐसा कोई कार्य तो नहीं किया जिसे व्यावहारिक दण्डमान से करामात कहा जावे किन्तु 'करामात' को मैं उस सबका प्रतिनिधि या प्रतिमान मानने को बाध्य हूँ जो उनकी मधुर स्मृति को अनायास ही सँजो देता है।

मुझे पता नहीं उन्होंने कब मेरी आँख बचाकर या अनुपस्थिति में दरवाजे के एक फाटक पर 'प्यारे ! ईश-चिंतन करो', दूसरे पर 'आत्मिक सुख मिलेगा' सफेद चाक से सुन्दर लहरदार आकर्षक अक्षरों में लिख दिया। लिखते समय उन्होंने अवश्य ही चित्तैकाग्रता व आत्मचिंतन में डूबने का प्रयास किया होता। चूँकि जब भी मेरी या किसी की नजर उठती है, उन शब्दों को छू लेती है तो जाने क्यों उन्हें बारम्बार पढ़ते मोह हो जाता है। मानो वह मोह पढ़ने और पढ़कर सोचने समझने को विवश करता हो।

जो भी हो, पर मुझे उससे एक लाभ अवश्य हुआ। गार्हस्थ्य दायरे की व्यस्तताओं एवं विवशताओं में पर्याप्त संशोधन एवं विपर्यय करके भी मैं इतना अवकाश नहीं निकाल पाता कि कुछ समय एकांत में अपने प्यारे ओ३म् देव का स्मरण चिन्तन करके आत्मिक ऐश्वर्य का हकदार बना रह सकूँ, बन जाऊँ। ईश्वर चिंतन के लिए समयाभाव की दलील सर्वसाधारण उपस्थित करता है। और करने में स्वतंत्र है अतः इस जगह मैं अपनी ओर से कोई सिफारिश न रखकर अपनी अज्ञता और प्रमाद को स्वीकार करना कहीं अधिक उचित समझता हूँ। लेकिन अज्ञता और प्रमाद स्वीकार कर लेने मात्र से तो कोई संतोषजनक हल नहीं निकल आता ! ईश्वर-चिंतन जरूरी ही नहीं सर्वथा अनिवार्य है। इसलिए नहीं कि इस तरह लीलामय प्रभु के अहसान का बदला चुकाया जाता रहे बल्कि इसलिए कि आप्तमनीषी एवं शास्त्र ईश्वर-चिंतन को उत्कृष्ट सुखों तथा ऐश्वर्यों को प्राप्त करने का एवं परिदीर्घ आनन्द उल्लास के पथ पर आरूढ़ होने का एक मनोवैज्ञानिक माध्यम मानते हैं। चूँकि प्राचीन प्राच्य आचार्यों ने ईश्वर चिंतन को ऐसे सूत्रों (नियम-उपनियमों) से आबद्ध किया है कि साधक सात्विक स्थिति में पहुँचने की प्रेरणा स्वयं ही प्राप्त कर लेता है। यहाँ पर विस्तार करने की आवश्यकता प्रसंगानुकूल नहीं है कि तन मन और आत्मा का सुख आरोग्य सात्विक अवस्था पर ही निर्भर है। जितनी भी देर हम उच्च अवस्था में रहते हैं, गुजरते हैं उतना ही लाभ हमारे स्थूल और सूक्ष्म शरीर का अंग बन जाता है।

हाँ, तो अब होता यह है कि जब भी मेरी नजर उन अमृताभिषिक्त पंक्तियों पर जाती है और झट मैं गायत्रीमंत्र अथवा द्वादशाक्षर मंत्र का चिंतन मनन शुरू कर देता हूँ। और वहाँ तक समाप्त नहीं करता जब तक मुझे यह भान भी नहीं रहता कि मैं प्यारे ओ३म्‌देव के सान्निध्य में था। वह क्षण कितने मीठे स्निग्ध और आत्मज्ञानवर्द्धक होते हैं यह मैं कैसे बताऊँ, कैसे उल्लेख करूँ। मेरा तो बस यही जी चाहता है कि दो तीन तरह का चमकदार पक्का कलर लेकर अपने गाँव के हर घर के प्रमुख दरवाजे पर बड़े ही मनोयोग से लिख दूँ कि— 'प्यारे ! ईश-चिंतन करो, आत्मिक सुख मिलेगा।'

आम का कल्प

डॉ० लक्ष्मीनारायण टंडन 'प्रेमी'

कल्प कई प्रकार के होते हैं। आम का भी कल्प होता है। जैसे अन्य कल्पों के करने के पूर्व जुलाब आदि लेकर पेट शुद्ध कर लिया जाता है, वैसे ही आम के कल्प में भी होता है। यह कल्प घी के द्वारा करना उपयोगी है। किन्तु यदि रोगी कमजोर हो तो जुलाब या रेचन के बिना भी काम चल सकता है।

अब आम के चुनाव का प्रश्न है। कलमी आम तो होने ही नहीं चाहिए, चुसवाँ आम होने चाहिए। आम पतले रस के हों तथा मीठे हों और ताजे हों। खट्टे न हों इसका ध्यान रखा जाय। आम के प्रयोग के पूर्व उन्हें पानी में भिगो देना चाहिए ताकि उनकी गरमी निकल जाय। आरंभ थोड़े ही आम से करना चाहिए। जितनी खूराक मनुष्य लेता है। कल्प के प्रथम दिन नित्य से कम खूराक रहे इसका ध्यान रहे। फिर धीरे-धीरे आम की मात्रा बढ़ाई जाय। किन्तु इसका ध्यान रखा जाय कि अजीर्ण न होने पावे या दस्त न आने लगे। यदि ऐसा हो तो आमों की मात्रा धीरे-धीरे ही घटा कर फिर बढ़ाई जाय। अतः प्रथम दिन कम संख्या में आम ले। फिर बीच-बीच में मात्रा बढ़ाता जाय। अंत में फिर आम की संख्या कम देना चाहिए। आम के बाद थोड़ा-थोड़ा दूध पीना चाहिए। जब कल्प समाप्त हो जाय तो अन्न का भोजन प्रारंभ करे। पर भोजन स्निग्ध, सुपाच तथा हलका होना चाहिए। दलिया, खीर आदि हल्की चीज ली जा सकती है। जब कल्प करना हो तब जल नहीं पीना चाहिए। और पिये भी तो यथासंभव कम से कम। मेरा विचार है कि संभव है पूर्व अभ्यास के कारण कल्प के प्रारंभ करने पर जल की आवश्यकता मनुष्य अनुभव करे किन्तु यदि दो एक दिन आत्म-नियंत्रण करे तो जल की आवश्यकता का वह अनुभव ही नहीं करेगा। आम तथा जल में तो यों ही पानी का अंश बहुत होता है अतः अलग से पानी की आवश्यकता है ही नहीं कल्प करने वाले को।

एक विशेष बात का ध्यान रखा जाय। बिना इस कल्प के सम्बन्ध में सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त किए कल्प प्रारंभ न कर दे। अच्छा तो यही होगा कि पहले स्वयं अध्ययन कर ले और फिर किसी विशेषज्ञ की देख-रेख में कल्प प्रारंभ करे। निश्चय ही गरमी के दिनों में आम का कल्प करना संभव है क्योंकि तभी आम की फसल होती है और ताजे आम मिलना संभव है। यों तो विज्ञान ने इतनी अधिक प्रगति कर ली है कि 'कोल्ड स्टोरेज' में रखी चीजें वैसी की वैसी ही बनी रहती हैं और वे फसल भी वे प्राप्त की जा सकती हैं किन्तु 'कोल्ड स्टोरेज' की वस्तुओं में वह ताजापन नहीं रहता और इसी से वे वस्तुएँ उतनी लाभप्रद नहीं होतीं। अतः कल्प ताजे फलों का ही करे। दूसरी बात यह ध्यान में रखे कि दूध बिना शकर का हो या शकर हो तो हल्की। यह इसलिए कि आम स्वयं बहुत मीठा होता है। और आम का प्रयोग काफी संख्या में होता है। ऊपर से दूध भी काफी मात्रा में पिया जाता है अतः यदि प्रत्येक बार दूध में काफी शकर रहेगी तो शकर तथा टोटल मिठास की मात्रा बहुत अधिक हो जायगी। इससे न केवल मिठास के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जायगी वरन् अधिक शकर तथा मीठा संभव है कुछ हानि भी करे। साधारण मनुष्य को एक सीमा तक शकर तथा मीठे की आवश्यकता होती है। जिस वस्तु की भी अति हो जायगी वही हानि करेगी।

यह तो बिना बताये ही समझा जा सकता है कि मधुमेह (डाइबिटीज) के रोगी को यह कल्प नहीं करना चाहिए। कल्प कितने दिनों का हो इस सम्बन्ध में कोई निश्चित निर्णय नहीं दिया जा

सकता। ३० दिन, ४० दिन० ४५ दिन, ६० दिन कितने ही दिनों का कल्प किया जा सकता है। यह रोगी या मनुष्य की दशा तथा स्वास्थ्य तथा विशेषज्ञ की राय पर निर्भर है।

दूध और आम का साथ परम आवश्यक है। रक्त-क्षय, शुक्र-क्षय, पित्त विकार वाले तथा कमजोर आँतों वाले रोगियों को प्रारंभ से ही आम के साथ दूध का सेवन करना चाहिए। दूध आम की गर्मी को मार देता है। केवल यही नहीं आम के ऊपर दूध की प्रतिक्रिया अत्यन्त लाभ-प्रद होती है। साधारणतया जितने आम के रस का प्रयोग हो उतना ही दूध लिया जाय। जो कमजोर आँत वाले हैं उन्हें तो आम के साथ दूध बहुत उपयोगी होता है।

पर जो लोग मोटे हों या जिन्हें मेद विकार हो या जो कब्ज के पुराने रोगी हों उन्हें आम का कल्प बिना दूध के ही करना चाहिए। ऐसे लोग यदि कमजोरी का अनुभव करें तो दूध के स्थान पर अंगूर या अनार के रस का प्रयोग कर सकते हैं। आम के कल्प में यदि तीन-चार-पाँच तक दस्त आवें तब तक तो यों ही चलने दें पर यदि इससे अधिक दस्त आयें तो आम की कूटी हुई बिजली का चूर्ण तीन से छः माशे तक दे इससे लाभ होगा। प्रकृति ने कितना प्रबंध तथा व्यवस्था रख छोड़ी है। आम के प्रयोग में बुरी प्रतिक्रिया होने पर उस बाधा के दूर करने का कितना सुविधाजनक तथा निकट का प्रबंध उसने कर रखा है। और यदि कब्ज या अजीर्ण हो जाय तो आम के छिलके का चूर्ण देने से लाभ होगा।

अब एक प्रश्न और उठता है। चुसुवाँ आम का क्या रस निकाल कर प्रयोग किया जाय या उन्हें चूस कर खाया जाय? मेरे विचार से जिसको जिसमें सुविधा हो या रुचि हो वैसा करे। उससे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा। पर हाँ, रस अपेक्षाकृत अधिक उत्तम रहेगा।

यदि कल्प करने वाला श्वाँस का रोगी है या कल्प काल में उसे श्वाँस के कष्ट में वृद्धि जान पड़े या स्त्रियों के प्रदर विकार के बढ़ने पर या स्वप्न-दोष के बढ़ने पर आम की मंजरी का चूर्ण देने से लाभ होगा।

जो कल्प करने वाले प्लीहा या बढ़े हुए जिगर के रोगी हैं या कल्प काल में यह कष्ट बढ़ जाय तो चोपी की एक-दो बूँद दूध में डाल कर दे (बताशे में न दे)।

मान लो कि कल्प काल में बवासीर का कष्ट बढ़ जाता है तब भी मंजरी का चूर्ण लाभ-प्रद हो सकता है। यदि खूनी बवासीर में खून की मात्रा बढ़ जाय तो कुछ दिनों कल्प रोक देना चाहिए तथा विपरीत विपाक वाले फलों को देना चाहिए। किशमिश या अन्य कोई खट्टे फल का प्रयोग करें। और जब बढ़े रोग में लाभ हो जाय तो फिर कल्प प्रारंभ कर दे। जिसे कफ-दोष हो अर्थात् कफ प्रधान दोष न होकर उप-प्रधान हो उसे आम के साथ शहद का प्रयोग लाभप्रद होगा। जो कमजोर रोगी हों उन्हें कल्पकाल में नहाना न चाहिए तथा वायु के तेज झोंके भी उन्हें न लगना चाहिए। हाँ, पंखे की हवा उन्हें हानि न करेगी। वात के अनेक रोगों में आम का कल्प लाभ देता है, उससे कम रोगों में जो पित्त सम्बन्धी है और सबसे कम कफ सम्बन्धी रोगों में।

जो राजयक्ष्मा (टी० बी०) के रोगी हों उन्हें पहले दूध का कल्प करना चाहिए और तब आम का कल्प। और आम के साथ वे शहद का प्रयोग करें। इससे उन्हें बहुत लाभ होगा।

जिन्हें मोतियाबिन्द होने वाला हो, या दमा हो या आमाशय और जिगर बिगड़ा हो उन्हें आम का प्रयोग करा कर वमन कराना चाहिए। शरीर के ऊपर के समस्त रोगों में ऐसे वमन से बहुत लाभ होता है। वमन इस प्रकार कराया जाय। पहले तो खूब पेट भर ठूँसकर आम का रस पिला दिया जाय। और फिर १०-१५ मिनट बाद दा चुटकी मैनफल दे दें। इससे वमन होगा। वमन के साथ समस्त अन्दरूनी विकार निकल जायेंगे। वमन एक बार ही नहीं, वरन् ५-६ बार कराना

चाहिए तभी लाभ होगा। पर एक दिन में एक या दो ही बार और वह भी प्रतिदिन निरंतर नहीं, एक-दो दिन का अन्तर देकर। वमन प्रातःकाल कराना चाहिए। दूसरी बार दिन में कराया जा सकता है।

पके आम में ए तथा सी विटामिन अधिक मात्रा में होता है। साधारण मात्रा में विटामिन बी भी पाया जाता है। देशी आम में प्रोटीन 0·1 %, बसा 0·8%, कारबोहाइड्रेट 18·4%, विटामिन A +, विटामिन सी + +, तथा कैलोरी प्रति आधी छटाँक २३ होती है। पक्के आम में जल 86·1%, प्रोटीन 0·6%, बसा 0·1%, खनिज पदार्थ 0·3%, रेशा 1·1%, कारबोहाइड्रेट 11·8%, कैलशियम 0·01%, फास्फोरस 0·02%, लोहा (मिलीग्राम में प्रति १०० ग्राम) 0·5%, विटामिन ए या कैलोरीज ग्राम इकाइयों में प्रति १०० ग्राम ४८००, विटामिन बी० (जैसा विटामिन ए में)···, विटामिन सी० (मिलीग्राम में प्रति १०० ग्राम) १३, कैलोरीज प्रति आधी छटाँक १४ है।

यह कहा ही जा चुका है कि अधिक आम के प्रयोग से विषमज्वर, मन्दाग्नि, कब्ज, रक्त विकार, नेत्र रोग, बहुत फोड़ा-फुन्सी भी हो सकते हैं। तब सोंठ के चूर्ण को दूध के साथ लेना चाहिए।

आम के रस के साथ अनेक चीजों का प्रयोग होता है। शहद के साथ यदि आम के रस का प्रयोग किया जाय तो राजयक्ष्मा, प्लीहा, वात तथा श्लेष्मा का नाश होता है।

आम के रस के साथ यदि घी का प्रयोग किया जाय तो पित्त तथा वात सम्बन्धी रोगों का नाश होता है। वह बल-वर्धक, वीर्य-वर्धक, भारी, शीतल तथा रुचिकर होता है। भपके के साथ आम के रस के अर्क को निकाल कर ४ तोला मात्रा देने में स्वप्न-दोष में लाभ होता है। वैसे ही यदि स्वप्न-दोष में यदि आम के रस में फिटकरी मिला कर पेड़ू पर लेप किया जाय तो लाभ होता है।

आम में अरुचि होने पर उबाली आम की गुठली को घी में भूनकर नमक के साथ देना चाहिए। कब्ज में अमरस के साथ सेंधा नमक और शकर मिला कर खाना चाहिए।

कल्प के लाभ को तो जाने दीजिए। साधारण रूप से आम का प्रयोग करने पर भी स्वास्थ्य, बल, कान्ति आदि में वृद्धि होती है और अनेक रोग दूर होते हैं। आम की मंजरी, गुठली, छिलका, चोपी, रस आदि सभी का प्रयोग किसी न किसी रोग में होता है। आम की गुठली तक से बहुत लाभ होता है। बिजली अम्ल तथा काषाय होती है। बिजली का प्रयोग अतिसार, खट्टी डकार, हृदय के दाह, वमन, बच्चों के फटे से दस्तों में, अधिक लार टपकने में, कै में, आँव में, मवाद आदि में बिजली का चूर्ण लाभ करता है (मूँग के बराबर प्रातः सायं गोलियाँ में देने से)। वैसे ही हैजे तथा पित्त के समस्त रोगों में भी चूर्ण लाभ पहुँचाता है। पेशाब रुकने पर बिजली का चूर्ण पेड़ू पर लेपा जाय तो पेशाब खुलती है। कफ के सब विकारों में आम की गुठली का तेल लाभ करता है। यह तेल पाताल-यंत्र द्वारा निकाला जाता है। त्वचा की खराबी तथा रोगों में, सेहुँआ या अन्य धब्बो में, मुँहासे, झाँई, विवर्णता, बच्चों की बफौरी, मुँह के छाले, वायु के शूल, रीढ़ के दर्द तथा शरीर के प्रत्येक प्रकार के दर्द में यह तेल लाभ पहुँचाता है।

मञ्जरी का भी तेल निकाला जाता है। और वह सिर का दर्द, आधा शीशी तथा कमजोरी के कारण दर्द में चार-चार बूँद नथुनों में डालने से लाभ होता है।

आम के दूध (गोंद) की राल भी बनती है। राल शकर और घी मिला कर खाने से अतिसार में लाभ होता है। इस प्रकार हमने देखा कि आम का प्रत्येक भाग लाभप्रद होता है।

———

राजयोग ग्रंथमाला

अलौकिक चिकित्सा विज्ञान

अमेरिका में योग चारक बाबा रामचरक जी की अँग्रेजी पुस्तक का अनुवाद चित्रमय छपा है। इसमें मानसिक चिकित्सा द्वारा अपने तथा दूसरों के रोगों को मिटाने के अद्भुत साधन दिये हैं। मूल्य २) रुपया, डाक खर्च ३२ न० पै०

सूर्य किरण चिकित्सा

सूर्य किरणों द्वारा भिन्न-भिन्न रंगों की बोतलों में जल, तैल तथा अन्य औषधि भर कर सूर्य की शक्ति संचित कर तथा रंगीन काँचों द्वारा सूर्य की किरण व्याधि-ग्रस्त स्थान पर डाल कर अनेक रोग बिना एक पाई भी खर्च किये दूर करना तथा रोगों के लक्षण व उपचार के साथ पथ्या-पथ्य भी दिये गये हैं। नया संस्करण मूल्य ५), रुपया डाक खर्च ४० न० पै०

संकल्प सिद्धि

स्वामी ज्ञानाश्रमजी की लिखी हुई यथा नाम तथा गुण सिद्ध करनेवाली, सुख, शांति, आनन्द, उत्साहवर्द्धक यह पुस्तक दुबारा छपी है। मूल्य २) रुपया, डाक खर्च ३२ न० प०

प्राण चिकित्सा

हिन्दी संसार में मेस्मेरिज्म, हिप्नटिज्म, चिकित्सा आदि तत्वों को समझाने व साधन बतलाने वाली एक ही पुस्तक है। कल्पवृक्ष के सम्पादक नागरजी द्वारा लिखित गम्भीर अनुभवपूर्ण तथा प्रामाणिक चिकित्सा के योग इसमें दिये गये हैं। जीवन में इस पुस्तक के सिद्धांतों से दीन-दुखी संसार का उपकार कर सकेंगे मूल्य २) रुपया, डाक खर्च ३२ न० प०

प्रार्थना कल्पद्रुम

प्रार्थना क्यों तथा किस प्रकार करनी चाहिए। दैनिक सामूहिक प्रार्थना द्वारा अनिष्ट स्थिति से मुक्त होने व दूरस्थ मित्रों व मृत आत्माओं को शांति व अनोखा संदेश दिलाने वाली आज के संसार में अपूर्व पुस्तक है। मूल्य ५० न० पै० डा० १२ न० पै०

आध्यात्मिक मण्डल

घर बैठे आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करने व साधन करने के लिए यह मण्डल स्थापित किया गया है जिससे स्वयं शारीरिक व मानसिक उन्नति कर अपने क्लेशों से मुक्त होकर दूसरों का भी कल्याण कर सकें। सदस्य बनने वालों की शिक्षा व साधन के लिए प्रवेश शुल्क १०) है और निम्नलिखित पुस्तकें दी जाती हैं :—

१-प्राण चिकित्सा २-प्रार्थना कल्पद्रुम ३-ध्यान से आत्म चिकित्सा ४-प्राकृतिक आरोग्य विज्ञान ५-आरोग्य साधन पद्धति ६-अध्यात्म शिक्षा पद्धति ७-त्राटक चार्ट ८-ॐ दर्शन ९-आत्म रक्षा १०-कल्पवृक्ष एक वर्ष तक ११-अमूल्य उपदेश।

कोई भी सदाचारी व्यक्ति मेरा फार्म मँगाकर सदस्य बन सकता है।

अमूल्य उपदेश

कल्पवृक्ष में पूर्व प्रकाशित अमूल्य उपदेशों का दूसरा संस्करण। मूल्य २) डाक खर्च २४ न० पै०

योगासनचित्र ७५ न० पै० डा० १६ न० पै०

स्व० पं० शिवदत्त शर्मा की पुस्तकें

सोहम् चमत्कार ५० न० पै० ध्यान की विधि ५० न० पै० आरोग्य आनंदमय जीवन ८७ न० पै० ॐकारजप ५० न० पै०

विश्वामित्र वर्मा द्वारा लिखित नई पुस्तकें

प्राकृतिक चिकित्सा विज्ञान

रोग क्यों तथा कैसे होता है, तथा दवा दारू, चीर फाड़, और जड़ी बूटी के बिना, दाम कौड़ी खर्च के बिना कैसे जाता है, विख्यात डाक्टरों का अनुभव मूल्य १) ५० न० पै०

यौगिक स्वास्थ्य साधन १)

प्राकृतिक स्वास्थ्य साधन

स्वास्थ्य के नये साधन, पौरुषवर्धक नये व्यायामों के २६ चित्र, भोजन की कायाकल्पक कारक नवीन वैज्ञानिक व्याख्या तथा नुस्खे। मूल्य २) डा० २४ न० पै०

आत्म सिद्धि

अथवा दिव्य व्यावहारिक अध्यात्म आत्म विकास द्वारा उन्नति और सफलता प्राप्त करने के व्यावहारिक साधन १)

दिव्य सम्पत्ति

दुःखी थके, उलझनों में फँसे, भ्रांत और निराश लोगों के लिए दिव्य रसायन। मूल्य ५० न० प०

दिव्य भावना (चार्ट) २५ न० पै०
भोजन निर्णय चार्ट २५ न० पै०

मिलने का पता—कल्पवृक्ष कार्यालय, उज्जैन, (मध्य प्रदेश)।

Registered No N. 499

अभी आपको बहुत जीना है !

जीवन के दिन आपको गिनकर नहीं मिले हैं और मरने की तिथि-घड़ी भी ललाट पर लिखी नहीं है। जन्मे हुए की मृत्यु यद्यपि अवश्य है, फिर भी मौत टाली जा सकती है, उम्र बढ़ सकती है। अपनी अनजान भूलों से रोग हो और अनेक इलाज होकर भी रोग बढ़कर पुराना और असाध्य हो जाय, और निराश होकर श्मशान जाने के दिन का इन्तजार कर रहे हों तो प्रकृति की शरण में आइए, अपनी गलतियों का सहज प्रायश्चित कर, किसी प्रकार की दवा, इन्जेक्शन या चीरफाड़ के बिना, केवल सूर्य, अग्नि, मिट्टी और जल के विभिन्न प्रयोगों से आत्मशुद्धि कर उचित आहार विहार द्वारा नया जीवन भला करें।

इस प्राकृतिक उपचार पद्धति से—

तन और मन के मल विकार निकलते हैं,

दवाओं का पुराना जमा हुआ विष भी निकलता है,

मोटा व्यक्ति हल्का, कमजोर बलवान बनता है,

तन-मन शुद्धि से पुराना शरीर नया होता है,

कायाकल्प होता है, उम्र बढ़ जाती है,

जीते जी पुनर्जन्म होता है,

रोगी स्वयं अपना डॉक्टर बनता है,

निराश मत होइए, जीवन जीने योग्य है, बार बार यह अनमोल जीवन नहीं मिलता।

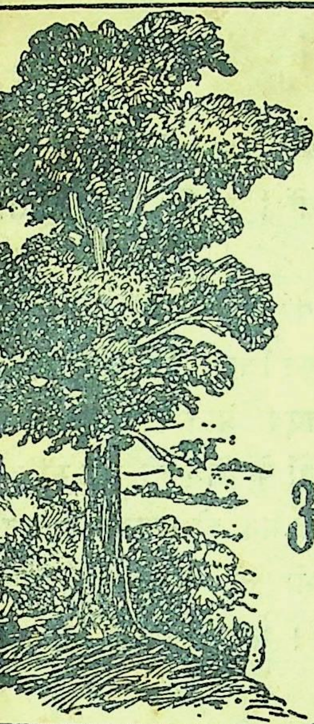
प्राकृतिक चिकित्सालय,

गंगाघाट, उज्जैन, मध्य प्रदेश

व्यवस्थापक व प्रकाशक—डॉ० बालकृष्ण नागर, कल्पवृक्ष कार्यालय, उज्जैन, (मध्य प्रदेश

मुद्रक—भक्तसज्जन, बेलविडियर प्रिंटिंग वर्क्स, इलाहाबाद-२

३७ न०पै० उत्तर प्रदेश, राजस्थान एवं मध्य प्रदेश शिक्षाविभाग द्वारा स्वीकृत वार्षिक मूल्य २) ५० न०पै०



कल्पवृक्ष

अध्यात्म विद्या का मासिक पत्र

उज्जैन, मध्यप्रदेश

अक्टूबर १९६२ ई०

Kalp.Vriksha

A MAGAZINE OF DIVINE KNOWLEDGE

सम्वत् २०२० वि

* सम्पादक—बालकृष्ण नागर *

Registered No N. 499

अभी आपको बहुत जीना है !

जीवन के दिन आपको गिनकर नहीं मिले हैं और मरने की तिथि-घड़ी भी ललाट पर लिखी नहीं है। जन्मे हुए की मृत्यु यद्यपि अवश्य है, फिर भी मौत टाली जा सकती है, उम्र बढ़ सकती है। अपनी अनजान भूलों से रोग हो, और अनेक इलाज होकर भी रोग बढ़कर पुराना और असाध्य हो जाय, और निराश होकर श्मशान जाने के दिन का इन्तजार कर रहे हों तो प्रकृति की शरण में आइए, अपनी गलतियों का सहज प्रायश्चित कर, किसी प्रकार की दवा, इन्जेक्शन या चीरफाड़ के बिना, केवल सूर्य, अग्नि, मिट्टी और जल के विभिन्न प्रयोगों से आत्मशुद्धि कर उचित आहार विहार द्वारा नया जीवन भला करें।

इस प्राकृतिक उपचार पद्धति से—

तन और मन के मल विकार निकलते हैं,

दवाओं का पुराना जमा हुआ विष भी निकलता है,

मोटा व्यक्ति हल्का, कमजोर बलवान बनता है,

तन-मन शुद्धि से पुराना शरीर नया होता है,

कायाकल्प होता है, उम्र बढ़ जाती है,

जीते जी पुनर्जन्म होता है,

रोगी स्वयं अपना डॉक्टर बनता है,

निराश मत होइए, जीवन जीने योग्य है, बार बार यह अनमोल जीवन नहीं मिलता।

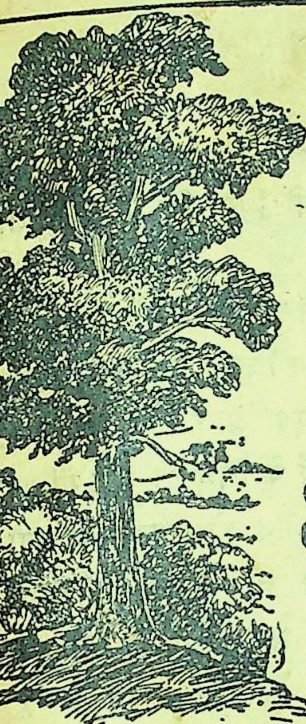
प्राकृतिक चिकित्सालय,

गंगाघाट, उज्जैन, मध्य प्रदेश

व्यवस्थापक व प्रकाशक—डॉ० बालकृष्ण नागर, कल्पवृक्ष कार्यालय, उज्जैन, (मध्य प्रदेश)

मुद्रक—भक्तसज्जन, बेलविडियर प्रिंटिंग वर्क्स, इलाहाबाद-२

७ न०पै० उत्तर प्रदेश, राजस्थान एवं मध्य प्रदेश शिक्षाविभाग द्वारा स्वीकृत वार्षिक मूल्य २) ५० न०पै०



कल्पवृक्ष

अध्यात्म विद्या का मासिक पत्र

उज्जैन, मध्यप्रदेश

अक्टूबर १९६२ ई०

Kalp. Vriksha

A MAGAZINE OF DIVINE KNOWLEDGE

सम्वत् २०२० वि

* सम्पादक—बालकृष्ण नागर *

स्वर्ण-सूत्र

चंञ्चल मन की स्थिरता

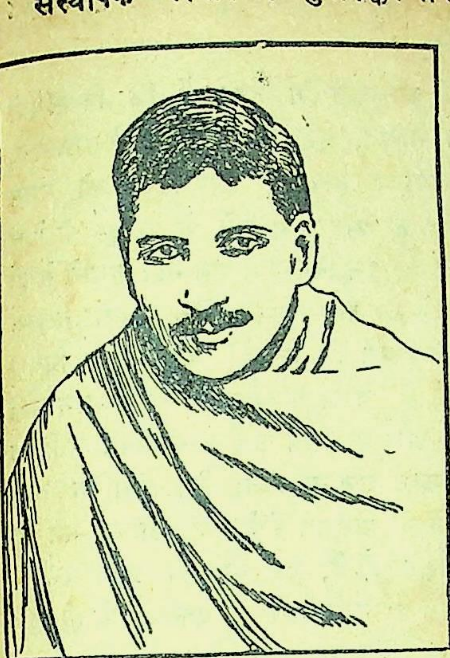
संत नागर जी

मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ, कि मन चंचल क्यों रहता है, एक विषय को छोड़कर दूसरे के पीछे क्यों भागता है। मन किसी प्रिय विषय को ढूँढ़ता हुआ सरपट लगाता है।

मैंने अब निश्चय किया है, कि अपने विचारों पर सदैव दृष्टि रखता हूँ, जो मेरे मन में प्रवेश करते हैं। यह चंचल मन जिसका चिंतन बार-बार किया करता है, उसी ओर इसका खिंचाव होता है, अतएव प्रातःकाल ध्यान व एकाग्रता का अभ्यास करके शुभ विचार तथा संकल्पों के लिए ही मन-मन्दिर का द्वार खुला रखता हूँ और संयम का अभ्यास करके मन को बलवान बनाता हूँ। अशुभ संकल्प तथा विचारों के साथ मैं युद्ध भी नहीं करता हूँ, किन्तु तत्काल शुभ संकल्प करने को मन को मोड़ देता हूँ। अशुभ संकल्प आप ही बाहर भाग जायँगे।

मैं यह सिद्धान्त अच्छी तरह जानता हूँ कि मन एक समय पर एक ही विषय का चिंतन कर सकता है। मैं आज से अपने जीवन को ऐसा दृढ़ निश्चययुक्त बनाता हूँ कि चित्त को चंचल करने वाले अनुचित विचार और अशुभ संकल्प उठ करके मेरे मन में प्रवेश नहीं पा सकते।

मेरे मनोराज्य से सब अव्यवस्था, कोलाहल और गड़बड़ करने वाले चंचल विचार दूर हो गये हैं। चित्त की असत् वृत्तियों के आधीन होकर अब कोई चेष्टा नहीं करता। कोई भी व्यर्थ का आवेश मेरे चित्त को चलायमान नहीं कर सकता। यदि आवेश या भावोद्वेग मन में उथल-पुथल मचाने लगे तो मैं तत्काल उनको बाहर निकाल देता हूँ और उनके स्थान में शिव-संकल्प और सद्भावना स्थापित का अभ्यास करता हूँ। मैं नित्य प्रातःकाल ध्यानस्थ होकर अपने मन को सच्चिदानन्द प्रभु के साथ तन्मय करता हूँ और बुद्धि को भी जोड़ता हूँ जिससे मेरा शुद्र मन उस विराट मन के साथ संयुक्त होकर एकाग्र हो जाता है। मुझे अद्भुत शांति का अनुभव होता है। इसी साधन से मैं मन को स्थिर और शांत करता हूँ। एकाग्रता संपादन कर सकता हूँ जिससे मेरा अभीष्ट सिद्ध होता है।





कल्पवृक्ष

अध्यात्म-विद्या का मासिक पत्र

उज्जैन, मध्यप्रदेश

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ गीता ॥

वर्ष ४१] उज्जैन, अक्टूबर सन् १९६२ ई०, सं० २०२० वि० [संख्या २

ध्यान शक्ति को उन्नत करने के उपाय

ले०—संत नागर जी

ध्यान की मात्रा अथवा सूचना की शक्ति तौलने के लिये साधक को ध्यान के विषय में समझ लेने की जरूरत है। युक्ति से सिद्ध होने वाली बात से ध्यान का गुण सर्वथा भिन्न है। कुछ मनुष्यों का ध्यान भावनाओं को ग्रहण करने में बहुत अधिक सफल होता है। भावना की रुचि से बहुत कुछ सहायता इस संयम के विषय में मिल सकती है। और दूसरे ऐसे लोग हैं, जब तक कि युक्ति से तौल न लें तब तक उसे ग्रहण नहीं करते। जो लोग भावनाओं को तत्काल ग्रहण कर सकते हैं उनके ध्यान की शक्ति स्वाभाविक ध्यान शक्ति कहलाती है। स्वाभाविक ध्यान शक्ति की उन्नति करना ही इच्छा शक्ति की उन्नति करना है।

किसी वस्तु पर चित्त जमाने को ध्यान कहते हैं। ध्यान दो तरह से जमाया जाता है। भीतर की बाजू मन की कल्पनाओं पर, और बाहर की बाजू दुनिया की चीजों पर, कभी-कभी दोनों तरह के ध्यान जमाने के लिये कुछ भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता है, और कभी-कभी बहुत प्रयत्न करना पड़ता है। इस तरह मनुष्य में दो प्रकार की ध्यान शक्ति पाई जाती है, एक तो वह जिस पर ध्यान अपने आप जम जाता है, और दूसरा वह जिस पर ध्यान जमाना पड़ता है।

ईश्वर ध्यान की विशेषता सर्वोपरि है। शरीर, मन, इन्द्रिय, बुद्धि और स्थूल प्राण से अपनी चैतन्यता को खींचकर आत्मा के केन्द्र में लाकर स्थित करना और वहाँ से परमात्मा

के निकट प्राप्त करना वास्तविक ध्यान है। सच्चा सुख, सच्ची शांति और सच्चा आनन्द निरन्तर आत्मा को जागृत कर परमात्मा के साथ ध्यानाभ्यास से संयोग करने से ही प्राप्त होता है।

अपने आप ध्यान जम जाने की शक्ति मनुष्यों और पशुओं में कुदरती तौर पर मौजूद है, इसी को स्वाभाविक ध्यान शक्ति कहते हैं। जिस चीज पर सबसे अधिक प्रेम हो उसी पर दीर्घ काल तक चित्त स्थिर हो सकता है।

कुत्ते के मुँह पर अगर चिंदी फेंको तो थोड़ी देर वह उससे खेलता रहेगा, पर जैसे ही कोई दूसरी बात उसके सामने आई वह इसको छोड़ कर उस तरफ लग जाता है। उसे किसी तरह की आवाज सुनाई दे, या किसी तरह की बास आवे तो वह उड़ती हुई चिंदी को छोड़ कर चट दूसरी तरफ ध्यान लगा देता है। छोटे बच्चों का स्वभाव भी इन छोटे जानवरों का सा होता है। वे किसी खिलौने से थोड़ी देर तक खेलते हैं, फिर जहाँ दूसरी चीज देखी कि उसे भूल जाते हैं और दूसरी तरफ अपना ध्यान लगा देते हैं।

मनुष्य और दूसरे जानवरों में मुख्य भेद यह है कि मनुष्य अपनी स्वाभाविक ध्यान शक्ति की उन्नति कर सकता है और इस तरह वह ध्यान शक्ति को अपने वश में कर सकता है। जिस दशा में ध्यान शक्ति प्रयत्न से वश में की जाती है वहाँ पर तर्क शक्ति अथवा ज्ञान शक्ति उसके भीतर मौजूद रहती है।

जो लोग स्वाभाविक ध्यान या इच्छा-शक्ति को बिना परिपक्व किये जीवन में प्रवेश करते हैं वे सदा पराधीन अवस्था में पड़े रहते हैं; वे अच्छे दास होते हैं, पर अच्छे स्वामी नहीं होते। वे आज्ञा पालन करने में संतुष्ट होते हैं, पर आज्ञा देने में असमर्थ।

आजकल हम देखते हैं कि विद्यार्थियों की गणित, इतिहास, भूगोल, रेखागणित, बीजगणित, तत्वज्ञान आदि विषयों को मनन करने की आदत न होने से परीक्षा में फेल होते हैं। इन विषयों में मन नहीं लगाने से ही ढेर के ढेर लड़के ऑफिसों में नौकरी तलाश करते फिरते हैं। जिनकी मनन शक्ति निर्बल होती है। वे किसी विद्या के पूर्ण विद्वान नहीं होते और इसीलिये उन्हें सारे जीवन जीविका का कष्ट उठाना पड़ता है। सांसारिक सभी मार्गों में असफल होने का कारण मन की निर्बलता ही है, इस बात को सर्वदा स्मरण रखो। अपने विचारों की एकाग्रता से ही तुम अपना जीवन सुधार सकोगे।

यदि तुम अपने जीवन में पूर्ण विजय प्राप्त करना चाहते हो या अपना जीवन दिव्य बनाना चाहते हो, तो अपने विचारों को जो कुछ पसन्द आवे वही काम करो, उसी का मनन, चिंतन करो और मन को उसी पर एकाग्र करो, यही बड़ा कठिन काम है और जीवन की उन्नति के लिये इसी बात की बहुत जरूरत है। बलपूर्वक किसी भी कार्य में मन को सब तरह से हटाकर उसी में यत्नपूर्वक लगाये रहना, यही स्वाभाविक ध्यान या इच्छा शक्ति है। अप्रिय वस्तुओं पर अधिक विलम्ब तक ध्यान नहीं ठहरता। किसी भी नवीन वस्तु पर बहुत प्रयत्न करने पर भी कुछ सेकन्ड तक ही ध्यान ठहर सकता है, इसलिये जिस वस्तु पर ध्यान जमाना हो उस पर बार बार प्रयत्न करना चाहिये। जब वहाँ से ध्यान हट जाय तो फिर वहाँ लाकर जमाना चाहिये।

एक अमेरिकन महिला जो ध्यान शक्ति का उपयोग अपने दैनिक व्यापार में करती है, अपना निजी अनुभव बतलाती है। प्रारम्भ में व्यवसाय चलाने को उसने कुछ पुस्तकों की एजेन्सी ली। बाहर भ्रमण कर पुस्तकों को बेचने के पहले अपने घर के कमरे में चुपचाप शांति से

बैठ गई। उसने पूर्व से ही पन्द्रह ऐसे आदमियों के नाम चुन लिये जहाँ जाकर अपनी पुस्तकें फरोख्त करनी थी। और यह धारणा की कि वे लोग उसके कमरे में स्थूल शरीर से मौजूद हैं और वह उनको पुस्तकों की उपयोगिता समझाकर उन्हें प्रभावित कर रही है कि वे पुस्तकें खरीद लें। उनके मानसिक फोटो से वह इस तरह व्यवहार कर रही है जैसे ग्राहक और व्यापारी प्रत्यक्ष में कर रहें हो। उसने यह धारणा स्पष्ट कर ली कि पुस्तकें उनको देकर दाम वसूल कर अपने पास रख लिये हैं। वह कहती हैं "इस मानसिक व्यापार से उसे यह निश्चित रूप से प्रतीत हो रहा था कि दाम उसके पास आ गये हैं, ऐसा दृढ़ निश्चय कर वह अपने घर से बाहर निकलकर फेरी लगाती और अपनी प्रबल आंतरिक दृढ़ इच्छा के अनुकूल प्रत्यक्ष में वैसे ही बनाव बन जाते।

इसी महिला का एक मित्र जो बीमे की कम्पनी का एजेन्ट है वह भी १,००,००० सेन्ट की पॉलिसीज अपनी मेज पर मानसिक ध्यान से नित्य बेच लेता है और फिर अपने घर से बाहर निकलता है और अपने मन की मांग के अनुसार सब काम काज उसी तरह हो जाते हैं। मिस एच० अपनी सफलता का रहस्य इस प्रकार बतलाती है :—

ध्यान शक्ति की सफलता का रहस्य

प्रत्येक व्यक्ति अपने मानसिक स्वप्न के अनुसार बाह्यावस्था में जैसा चाहे वैसा परिवर्तन कर सकता है। विश्वास रखो—यह बिलकुल सत्य है। जिस बात को तुम अपने जीवन में देखना चाहते हो उसी पर दृढ़ता से चित्त को एकाग्र करो और तुम जिन व्यक्तियों को प्रभावित करना चाहते हो उन पर अपना ध्यान स्थिर करो। प्रति दिवस कुछ समय तक उसी वस्तु का मानसिक चित्र बनाओ, जिनका परिणाम तुम अपने बाह्य जीवन में, वर्त्तमान समय में उत्पन्न करना चाहते हो। दृढ़ निश्चय से अपने मनोबल को ध्येय की प्राप्ति में जुटा दो। मान लो कि तुम अपने किसी हठी ग्राहक को वश में करना चाहते हो। अपने स्वयं का और ग्राहक का मानसिक चित्र या उसके नाम से कल्पना से मूर्ति निर्माण कर लो और हू-बहू यह देखने की चेष्टा करो कि तुम उसको पूरी तरह से प्रभावित कर रहे हो, वह तुम्हारी मर्जी के अनुकूल काम कर रहा है, सब तरह से तुम्हारी आज्ञाओं का पालन कर रहा है। अपने प्रकट मन में, जाग्रत मन में उस तस्वीर को कम से कम दस पन्द्रह मिनिट तक धरे रहो। यदि कम से कम तीन मिनिट तक भी उस दृश्य पर सब विचारों को हटाकर मन स्थिर कर सकोगे और तुम्हारे विचार एक क्षण भी तितर-बितर न होगे तो अवश्य सफलता प्राप्त होगी। जाग्रत मन को अपनी मनःकामना पूर्ण करने के लिये एकाग्र करने का समय रात्रि को सोते समय या प्रातःकाल उठते ही है। ऐसे स्थान पर चले जाओ जहाँ कोई आवाज न आती हो और न किसी प्रकार की गड़बड़ हो बैठ जाओ, या लेट जाओ, शरीर और मन को शिथिल कर लो और गुप्त मन से जो कुछ करवाना चाहते हो उस पर मन को टिकाओ। यदि पन्द्रह मिनिट भी इस अभ्यास में समय लगाओगे, थोड़े ही समय में इस अभ्यास का रहस्य मालूम होगा। सफलता का आधार तुम्हारी ज्वलन्त प्रबल कामना पर निर्भर है। किसी भी वस्तु को प्राप्त करने के पूर्व तुम अपना प्रभुत्व उस पर जमा लो और यह निश्चय कर लो कि वह तुम्हारे पास पहिले ही से उपस्थित है। एक ही विचार या भावना पर दीर्घकाल तक चित्त को जमाना आसान काम नहीं है, किन्तु अभ्यास से शनैः-शनैः मन पर अधिकार कर इसको वश में ला सकते हो। यह ध्यान शक्ति अमेरिकन तरीका है। वहाँ के निवासी अपने व्यापार और व्यवसाय की उन्नति

में इसका उपयोग करते हैं। हम सावधान किये देते हैं कि इस तरीके से किसी भी तरह से दुरुपयोग न किया जाय, बल्कि अपनी उन्नति और जगत् की उन्नति के लिये उपयोग में लाना चाहिये।

दूसरा उपाय

सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति से मनुष्य को सच्चा आनन्द प्राप्त नहीं होता, और जो होता भी है वह क्षणिक है, नाशवान है, दुःख देने वाला है। जहाँ वासना देवी रहती है वहाँ शांति कदापि नहीं रह सकती। ईश्वराविमुख होने से ही सच्ची शांति प्राप्त होती है। तीव्र वैराग्य और उत्कट प्रेम ही ध्यान को दृढ़ और सुगम बनाते हैं। ईश्वर के ध्यान से ज्ञान बढ़ता है, तत्वज्ञान प्राप्त होता है और हृदय में उज्जवल प्रकाश प्रकट होता है। ध्यान ही आत्मा का परमात्मा से मेल कराता है। एक इसी आश्रय का अवलम्बन कर निरन्तर ध्यान के अभ्यास में लग जाओ। रात्रि के दो बजे बाद से सूर्योदय के पूर्व समय तक किसी भी समय नियमित रूप से अंधेरे स्थान में शांति से बैठ जाओ। अपने नेत्रों को बन्द कर लो और अपनी दिव्य दृष्टि से, मानसिक दृष्टि से, अपने इर्द-गिर्द सब दूर देखो कि मानसिक वातावरण में ऐसे कोई लोग तो नहीं है जो तुम्हारे साधन में विघ्न डाल रहे हों। शांति पाठ से अंतर और बाह्य जगत को शांत कर दो। अब अपनी ध्यान निष्ठा में दृढ़ता से बैठ जाओ। पहिले-पहल तमसा प्रकाश प्रकट होगा, जी घबरा उठेगा, पर थोड़ी देर अंतर स्थित होने से प्रकाश प्रकट होगा।

ध्यान के लिये भावना

जिसके प्राण से हम प्राणित हैं, जिसकी दृष्टि को पाकर हम नेत्रों से देखते हैं, जिसकी श्रवण शक्ति पाकर कानों से सुनते हैं, जिसकी वाक्य शक्ति पाकर तम वाणी द्वारा बोलते हैं, जिसकी ज्ञानशक्ति पाकर हम सोचते विचारते हैं और जिसकोपाकर हम आत्मवान होते हैं उस परमतत्व को हम अपने में उपलब्ध करें। उसकी सामर्थ्य, उसके ज्ञान, उसके आनन्द व सुख, उसकी शांति, उसकी दया, उसका न्याय और उसकी पवित्रता को अपने में प्रतिश्वास ले रहे हैं, उसके अनन्त गुणों में सदा सर्वदा वास करते हैं और घिरे हुये हैं। भीतर बैठकर अर्थात् अपने अन्तर आत्मा में स्थित होकर इन्द्रियों को बाह्य विषयों से रोक कर इसी ध्यान में घंटे, दो घंटे, आधा घंटा, जितनी देर चित्त की स्थिति को स्थिर रख सको, ध्यानस्थ हो जाओ और वहाँ तुम्हे सत्यं, शिवं, सुन्दरम् उस महाप्रभु के दर्शन होंगे।

स्वर्णसूत्र

आत्मिक उन्नति

[संतनागर जी]

कोई भी सांसारिक दुःख या खुशी मेरे चित्त को चलायमान नहीं कर सकते। मेरा चित्त स्थिर और चट्टान के समान मजबूत है। संसार की घटनाएँ मुझे विचलित नहीं कर सकतीं। मैं आत्म-सुधार के मार्ग में अग्रसर हो रहा हूँ। मुझे आत्मोन्नति के मार्ग में आगे बढ़ने से कोई नहीं रोक सकता। मेरे हृदय में दुःख, संताप और चिंता कदापि स्थान नहीं प्राप्त कर सकते। किसी प्रकार की विघ्न बाधाएँ मुझे अपने ध्येय से हटा नहीं सकती। मुझमें कोई बुराई नहीं ठहर सकती।

मेरे शुद्ध हृदय में जरा भी अनिष्ट की

भावना उठ नहीं सकती, मेरे सब संकल्प ईश्वरीय हैं और सर्वकल्याण के लिये ही हैं। मेरा मन इतना सबल और शुद्ध है कि मेरे मन में सदा शुभ संकल्प ही उठते हैं। मैं अपने संकल्पों पर अटल रहता हूँ। मैंने पाप और दुःख को परास्त कर दिया है। मुझे कोई दुःख और क्लेश नहीं हो सकता; क्योंकि करुणा वरुणालय भगवान मुझ पर असीम दया व कृपा की निरन्तर वर्षा कर रहे हैं।

साधक सावधान

(५)

[आचार्य श्री नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ, ज्वालापुर]

साधन ध्यान रखो। तुम श्रेय मार्ग पर चल रहे हो इसी से तुम्हारा कल्याण होने वाला है।

मनुष्य जब संसार में चलता है तब उसके सामने दो मार्ग पड़ते हैं। एक श्रेय और दूसरा प्रेय। समझदार साधक खूब सोच-विचार कर श्रेय मार्ग पर चल देता है निधड़क होकर। बेसमझ साधक संसार की ऊपर-ऊपर की चमक देख कर चकित हो जाता है और प्रेय मार्ग को स्वीकार कर लेता है। श्रेय पर चलने वाले का कल्याण होता है और प्रेय वाला संसार का चक्कर काटता रहता है और जन्म-मरण के चक्र में फँसा रहता है। मनुष्य जन्म का मुख्य उद्देश्य है आत्मसाक्षात्कार द्वारा आनन्द और परमात्मा का आनन्द प्राप्त के। सच्चा साधक प्रेय को, संसार मार्ग को छोड़ कर श्रेय मार्ग को क्यों ग्रहण कर लेता है।

या तो

इसलिए संसार दुःखमय है या प्रेय मार्ग प्रारम्भ में दुःखदायी है। इस विषय में ज्ञानी पण्डितों की दो राय हैं। एक मत यह है कि संसार दुःखमय है इसमें रहकर करना क्या है? दूसरी राय यह है कि संसार केवल दुःखमय नहीं है। संसार केवल दुःखमय होता या रहता तो यह रहने योग्य स्थान नहीं रहता। परन्तु ऐसा नहीं है। संसार के दुखों में बीच-बीच में सुख भी तो आते रहते हैं इसलिए संसार केवल दुःखमय नहीं है। केवल सुखमय भी नहीं है, मिश्रित है।

जो हो, जो केवल सुख-स्वरूप है, जिसका स्वरूप "आनन्द" है उसी के साक्षात्कार में आनन्द है। संसार में आने का अन्तिम उद्देश्य अथवा ध्येय यही है कि मन को अमन बना कर आत्मसाक्षात् द्वारा उस आनन्द को प्राप्त करे।

इसीलिए संसार में दो मार्ग हैं और सदा से चले आ रहे हैं। एक निवृत्ति श्रेय की ओर जाने का, दूसरा प्रवृत्ति प्रेय में पड़े रहने का।

निवृत्ति मार्ग निराशा का मार्ग नहीं है

निवृत्ति मार्ग का अर्थ यह नहीं कि निराशों का मार्ग। वह तो एक बड़ी आशा का मार्ग है। जहाँ जाकर सब आशाएँ पूरी हो जाती हैं।

छान्दोग्य कहता है

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति।
भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः।

जो सबसे बड़ा है वही सुख है। अल्प पदार्थों में सुख कहाँ। इसलिए भूमा (सबसे बड़े) को जानने का प्रयत्न करना चाहिए।

साधक जब तुम साधना की ओर झुके हो तो समझ लेना चाहिए कि अल्प-स्वल्प छोड़कर "भूमा" अर्थात् बड़े-सबसे बड़े की ओर जाने की तैयारी में लग रहे हो। जैसे बड़े को पाना है वैसे बड़े प्रयत्न भी तो होने चाहिएँ—

वैदिक विज्ञान और मानव

[ले०—उद्धव, संचालक—अ० भा० श्री रविधाम, केन्द्र महिदपुर]

[गताङ्क से आगे]

पत्थर, सूर्य, चन्द्रमा, भूपिण्ड, नक्षत्र आदि पदार्थों का अपना एक स्वतन्त्र केन्द्र रहता है एवं इनका अपना एक स्वतंत्र पिण्डात्मक शरीर भी है, अतएव ऐसे पदार्थों को 'सत्यपदार्थ' कहा जायगा। प्राण, वायु, सोम और अप् आदि पदार्थों का न तो अपना कोई स्वतंत्र केन्द्र होता है, एवं न अपना कोई स्वतंत्र आकारात्मक पिण्ड शरीर होता है, किन्तु जैसा आधार होता है वैसा ही इनका आकार हो जाता है।

'यद्यत्स्वरूपमादत्ते तेन तेन स युज्यते'

स्वतंत्र केन्द्र के अभाव से ही इन अशरीरी ऋतु पदार्थों के एक देश ग्रहण से पूरे का ग्रहण नहीं होता। जब कि सहृदय और सशरीरी सत्यपदार्थों के एक देश ग्रहण से पूरा पदार्थ ही गृहीत हो जाता है। कपूर, राल, पारद, गन्धक, अभ्रक, मेघ आदि पदार्थों का कोई स्वतन्त्र केन्द्र तो नहीं होता किन्तु इनका आकारात्मक पिण्ड अवश्य होता है। केन्द्र के अभाव से ही ये खण्ड-खण्ड रूप में विभक्त होते हुए इधर-उधर फैल जाने की क्षमता रखते हैं। हृदय न रहने से ये ऋतु हैं, पिण्डभाव की अपेक्षा से ये सत्य है, अतएव ऐसे पदार्थों को 'ऋतु सत्य' रूप दोनों नामों से कह दिया जाता है।

केन्द्रयुक्त वस्तुपिण्ड ही 'सत्य' शब्द की वैज्ञानिक व्याख्या है। जिसका स्पष्टीकरण इस मंत्र में हुआ है—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तर—
जायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरा—
स्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥
—यजुःसंहिता ३१।१९

'प्रजापति देवता प्रत्येक पदार्थ के गर्भ में अर्थात् केन्द्र में स्थित रहते हैं। भीतर से भीतर रहते हैं। ये उत्पन्न नहीं होते, इसीलिए अजायमान हैं। किन्तु सब कुछ इन्हीं से उत्पन्न होता है। ऐसे प्रजापति के इस योनि-भाव केन्द्रभाव का साक्षात्कार धीर मनीषी वैज्ञानिक ही कर सकते हैं, जिस केन्द्रात्मिका योनि के आधार पर ही उस-उस वस्तु के सात या पाँच भुवन स्थित रहते हैं।'

वस्तुपिण्ड के केन्द्र में स्थित रहने वाली हृ-द-य-रूपा आगति-गति-स्थिति-लक्षणवाली हृदय की शक्ति का ही नाम 'प्रजापति' है, जिसके सम्बन्ध में **'हृदि-अयं हृदयम्'** प्रसिद्ध है। हृदय में हृदय रहता है, अर्थात् केन्द्र में गति-आगति-स्थितरूप तत्वतः गत्यात्मक ही प्राणलक्षण हृ-द-य-रूप प्रजापतितत्व स्थित रहता है। जिस हृदय में यह हृ-द-य-रूप रहता है, उस हृदय का क्या स्वरूप है? इस प्रश्न का ऋषि ने उत्तर दिया है—'अन्तः। हृदय कोई भौतिक पदार्थ नहीं है, जिसका कोई स्वरूप लक्षण कर दिया या हाथ से पकड़ कर बता दिया जाय। सुसूक्ष्मबिन्दु के माध्यम से संकेतित सूक्ष्म बिन्दु में भी केन्द्र है, अतएव किसी भी सूक्ष्म से सूक्ष्म बिन्दु से भी हृदय का स्वरूप नहीं बताया जा सकता। केवल प्राणात्मक हृदयबिन्दु को 'अन्तः' शब्द से ही कहा जा सकता है। अन्तः अर्थात् भीतर से भीतर, जहाँ तक भी, जिस सुसूक्ष्म भाव तक आप की कल्पना दौड़ सकती है, वही हृदय शब्द की तटस्थ परिभाषा मानी जायगी।

भौतिक पिण्ड बदलते रहते हैं, यह परिवर्तन ही उत्पत्ति भाव है, सृष्टि भाव है। प्राणरूप अमूर्त-अभौतिक हृदय कभी नहीं

बदलता, अतएव इसके लिए कहा गया है—**'अजायमानः'** अर्थात् अपरिवर्तनीय। किन्तु **'बहुधा विजायते'** अर्थात् पिण्ड, पिण्डमुक्त संपूर्ण भूतत्त्वर इस केन्द्रस्था हृदय की शक्ति के आधार पर ही परिवर्तनरूप उत्पत्ति भावों से समन्वित है। हृदय की शक्ति ही इन भौतिक त्तरों की सर्जिका बनती है। कैसे पकड़ें इस केन्द्रशक्ति को ? ऋषि उत्तर देते हैं—**'तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः'** अर्थात् धीर प्रज्ञाशील अपनी प्रज्ञा के मापदण्ड से ही इस केन्द्र का दर्शन कर लिया करते हैं। तात्पर्य भूतवत् हृदय का ग्रहण सम्भव नहीं है, किन्तु विज्ञान बुद्धि के द्वारा ही यह शक्ति परिगृहीता बनती है। क्या कोई स्थूल मापदण्ड नहीं है इस **'हृदय'** को पहचानने का? है, उसी का स्पष्टीकरण करते हुए अन्त में ऋषि कहते हैं—**'तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा।'** वस्तु-भारके समतुलन के मध्यम से सर्वभार की तुला-रूप हृदय का अवश्य ही परिज्ञान हो जाता है। क्योंकि प्रत्येक वस्तुपिण्डका भार उसके केन्द्रबिन्दु से ही समतुलित रहता है। एक छड़ी अपनी अंगुलीपर रखिये, जब केन्द्रबिन्दु का आपकी अंगुली से सम्बन्ध हो जायगा, छड़ी का दोनों ओर का भार समतुलित हो जायगा, छड़ी का हिलना बन्द हो जायगा, वह स्थिर हो जायगी। क्योंकि छड़ी के या प्रत्येक भूत-पिण्ड के सातों या पाँचों लोक केन्द्र के आधार पर ही स्थित हैं। महाविश्व में जो सप्तभुवन या पञ्चभुवन की व्यवस्था है, वही व्यवस्था विश्व के अवयव रूप प्रत्येक भूतपिण्ड में भी है। यथाण्डे तथा पिण्डे। जैसा वहाँ है, वैसा ही यहाँ है। वह पूर्ण है, यह भी पूर्ण है। ध्यान दीजिए इस मन्त्रपर—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

—ईशोपनिषद्

वह पूर्ण था या पूर्ण है, इसलिए यह भी पूर्ण है। उस पूर्ण से ही इस पूर्ण का उदञ्चन (निकलना) हुआ है, प्रवर्ग्यरूप से स्वरूपनिर्माण हुआ है, अतएव यह भी उस पूर्णवत् अवश्य ही पूर्ण है। क्योंकि कार्यवस्तु में कारण-वस्तु के ही तो गुण-धर्म आते हैं। **'पूर्णस्य पूर्णमादाय'** अर्थात् इस पूर्ण के पूर्ण को आपने यदि ठीक जान लिया, पहचान लिया, तो **'पूर्णमेवावशिष्यते'** अर्थात् आपके सम्मुख पूर्ण का स्वरूप संपूर्ण उपस्थित हो गया। कैसी प्रचण्ड जीवित भाषा में ऋषि ने इस पूर्ण विभूति का दिग्दर्शन कराया है। विविध रस मिश्रित कढ़ाई के जल में जो तत्व है, इसकी प्रत्येक बिन्दु में भी अवश्य ही वे सब रस विद्य-मान हैं। उसी प्रकार उस महान्-पूर्ण से उत्पन्न अणु से अणु पदार्थ में भी वे सब तत्व विद्य-मान हैं, जो उस महान् में हैं। इसी आधार पर **'एकेन विज्ञानेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति'** यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है **'यदेवेह तदमुत्र, यदमुत्र-तदन्विह'** जैसा यहाँ है, वैसा ही वहाँ है और जैसा वहाँ है, वैसा ही यहाँ है। यही यहाँ की ऋषि-दृष्टि है, जिसका यथार्थ समन्वय करने में असमर्थ भावुकों ने ही शून्यवाद की भ्रान्त कल्पना कर डाली है। मंत्र की व्याख्या के द्वारा यहाँ यही निवेदन करना है कि वस्तु पिण्ड के केन्द्र में स्थित हृदय की शक्तिरूप प्राणतत्व ही **'सत्य'** शब्द की स्वरूप व्याख्या है।

तो क्या स्वयं वस्तुपिण्ड असत्य है ? या भूत-भौतिक प्रपञ्चरूप यह संपूर्ण विश्व मिथ्या है ? नहीं, कदापि नहीं। नाम-रूप-कर्मात्मक यह भौतिक विश्व उस केन्द्रस्थ मूल सत्य से चारों ओर से गृहीत रहता हुआ अवश्य ही सत्य है। मूलसत्य या हृदयसत्य यदि उस सच्चिदानन्द का ज्ञानात्मक अमृतरूप है, तो पिण्डसत्य उसी ज्ञानब्रह्म का विज्ञानात्मक मर्त्यस्वरूप है।

'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन'

के अनुसार अमृतप्राण और मर्त्यपिण्ड दोनों की समन्वित अवस्था का ही नाम **'अहम्'**

अर्थात् ब्रह्म है, जिसका **'अहं ब्रह्मास्मि'** इस वेदान्त वाक्य से उद्घोष हुआ है। **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** यह श्रुति जहाँ प्राण सत्यात्मक-हृदयरूप-आत्म सत्य का प्रतिपादन कर रही है, वहाँ **'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** यह श्रुति भूत सत्यात्मक-पिण्डरूप-विश्वसत्य का यशोगान कर रही है। नामरूपकर्मात्मक विश्व-सत्य से ही या पिण्डसत्य से ही हृदययुक्त प्राणसत्य चारों ओर से छन्न है, सुगुप्त है, जो केन्द्रात्मक प्राणसत्य अमृत कहलाया है। वेदमहर्षि क्या कह रहे हैं नाम-रूप-कर्मात्मक इस विश्व के सम्बन्ध में ? यह भी सुन लीजिए—

"तदेतत् त्रयं सदेकमयमात्मा। आत्मा उ एकः सन्नेतत्त्रयम्। तदमृतं सत्येनछन्नम्। प्राणो वा अमृतम्। नामरूपे सत्यम्। ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः।" (श० १४।४।४।३)

नाम रूपात्मक पिण्ड भी सत्य है और पिंड का केन्द्र भाव भी सत्य है। क्योंकि यही केन्द्र-सत्य पिण्डसत्य की प्रतिष्ठा बनता है, अतएव इसका एक साङ्केतिक नाम **'सत्यस्य सत्यम्,** रख दिया है। जिस प्रकार सूर्य, चन्द्र, विद्युत्' अग्नि, नक्षत्र-आदि भूतज्योतियों की अधार-भूता ज्ञान ज्योति **'ज्योतिषां ज्योतिः'** कहलाई है, उसी प्रकार नाम-रूप-कर्मात्मक पिण्डसत्यों के आधारभूत हृदयरूप आत्मसत्य को अवश्य ही—**'सत्यस्य सत्यम्'** कहा जा सकता है। यदि सम्पूर्ण विश्वविकास उस ईश्वरप्रजा-पति का विकास है, तो अवश्य ही वह स्वयं इन विकासों का भी विकास है, जिससे इस मूलविकास से ही सम्पूर्ण विश्व विकसित है।

अब **'ऋत'** शब्द को लक्ष्य बनाइए। जिसका कोई न तो अपना शरीर अर्थात् आकार हो, न स्वतन्त्र हृदय हो, वही ऋत कहलाया है। ऋततत्व सत्य को आधार बना-कर सत्यस्वरूप में परिणत हो जाता है। सत्य में जब ऋत की आहुति होती है, तो वह सत्य इस आहुत ऋत को भी सत्य रूप में परिणत कर देता है। बज्रात्मक विश्व का मौलिक स्वरूप यद्यपि ऋत ही है, किन्तु यह रसात्मक सत्य से युक्त होकर सत्यस्वरूप में परिणत हो रहा है। वैदिक तत्ववाद के सर्वस्व बने हुए इस ऋतसत्य का ही ऋषि ने पूर्वोक्त—

'ऋतञ्च सत्यं चा भीद्धास्तप सोऽध्यजायत'

इत्यादि मन्त्र से यशोगान किया है। पुराण ने भी कहा है—

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यं ऋतसत्यनेत्रं।
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः॥

—श्रीमद्भागवत १०।२।२६

(शंकर, ब्रह्माजी, सब देवता और नार-दादि ऋषि कंस के कैदखाने में श्रीहरि की स्तुति करते हैं) 'हे प्रभो ! आप सत्यसंकल्प हैं। सत्य ही आपकी प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन है। सृष्टि के पूर्व, प्रलयकाल के पश्चात् और संसार की स्थिति के समय इन अवस्थाओं में भी आप सत्य हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच दृश्यमान सत्यों के आप ही कारण हैं। और उनमें अन्तर्यामी रूप से विराजमान भी हैं। आप इस दृश्यमान जगत् के परमार्थ स्वरूप हैं। ऋत और सत्य आपके नेत्र हैं। भगवन् ! आप तो बस, सत्य स्वरूप ही हैं। हम सब आपकी शरण में आये हैं ?

—क्रमशः

वेदों का महत्व

[स्वामी विष्णुतीर्थ जी]

वेदों में इस प्रकार के मंत्र स्थान-स्थान पर मिलते हैं जहाँ सूर्य की स्तुति की गई है और सविता की अनुज्ञा में रह कर साधक प्रार्थना करता है गायत्रीमंत्र से भी साधक अपने अंतर में इस आदि शक्तिरूपा सावित्री की जाग्रति द्वारा आत्मतत्व का साक्षात्कार करना चाहती है। क्योंकि जो आत्मा सूर्य में है वही प्रत्येक मनुष्य के अंतर में है। जैसा कि यजुर्वेद के ४०वें अध्याय के अंतिम मंत्र में कहा है।

"यो ऽसावादित्ये पुरुष: सो ऽसावहम्"

वैदिक वाङमय के अवलोकन से ये बात दिखती है कि आत्मा का साक्षात्कार उसकी शक्ति का ही साक्षात्कार है। अथवा यों कहें कि उसकी शक्ति की सहायता से ही आत्म साक्षात्कार संभव है। केनोपनिषत् के खंड तीसरे में कहा गया है कि इंद्र को हैमवति उमा ने दर्शन देकर बताया कि वो यक्ष ब्रह्म था।

खेद का विषय है कि आधुनिक युग के ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य नवयुवक वेदों से विमुख होकर वास्तव में हरिजन बनने जा रहे हैं। माता पिता बच्चों के उपनयन संस्कार में सैकड़ों रुपये खर्च करते हैं, क्या इस आशा से कि वह यज्ञोपवीत खूँटी पर उतार कर दिया जाय?

हमारे ऋषी बड़े दूरदर्शी और बड़े दयालु थे। वे जानते थे कि कलि काल के मनुष्य वेदों को धारण करने के लिये योग्य नहीं रहेंगे। उन्होंने इतना सरल मार्ग बताया कि केवल त्रिकाल संध्या में एकमात्र वेद जननी गायत्री भगवती की उपासना द्वारा वही फल प्राप्त हो सकेगा जो सब वेदों में कहा गया है। गायत्री की तीनों व्याहृतियां तीन वेद की प्रतीक हैं। ऐसा हम ऊपर कह आये हैं। अर्थात् तीनों व्याहृतियों सहित गायत्री के अनुष्ठान द्वारा चारों वेदों का फल मिलता है और ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सकता है। परन्तु कितने शोक की बात है कि आज का ब्राह्मण नवयुवक भी त्रिकाल न सही एक काल भी संध्योपासना करने से जी चुराता है।

मनु का कहना है कि जो मनुष्य त्रिकाल संध्या नहीं करता उसको किसी भी दान पुण्य वा अन्य उपासना का फल नहीं मिल सकता। अस्तु ॥

वेदों का उद्देश ब्रह्म प्राप्ति

ऋग्वेदीय अस्यवामेय सूक्त मंडल १ अध्याय २२ सूक्त १६४ के २०वें मंत्र में कहा गया है।

"द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं
परिषस्वजाते।
तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो
अभिचाकशीति ॥

अर्थ:-मनुष्य के देह रूपी वृक्ष पर जीव और ईश्वर रूपी दो पक्षी बैठे हैं। जो सखा और साथी हैं। उनमें से एक वृक्ष के स्वादुफल खाता है। दूसरा न खाता हुआ साक्षीरूप से बैठा हुआ है।

इसके आगे २२वें मंत्र में कहा गया है—

"यस्मिन वृक्षे मध्वद: सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे।
तस्येदाहु: पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्य: पितरं न वेद् ॥

अर्थ—जिस वृक्ष पर मधु के खानेवाले सुपर्णा रहते हैं और सब पर उसका प्रकाश डालते हैं उसी सुपर्णा के बारे में पहिले कहा गया है कि 'पिप्पल' "स्वाद्वत्ति" स्वादुफल खाता है।

जिसने पिता (ईश्वर) को नहीं जाना उसे मधु नहीं मिलता।

यहाँ पर स्वादुफल या मधु का अर्थ शांति लेना चाहिये। जैसा कि भगवान ने गीता में कहा है :

ईश्वर: सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति
भ्रामयन् सर्व भूतानि यंत्रारूढानि मायया।
तमेव शरणं गच्छ सर्व भावेन भारत
तत् प्रसादात्परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

उक्त २० ऋचा के आधार पर मुंडकोपनिषत् में कहा है।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमान: ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमान-मिति वीतशोक: ॥

अर्थ–इस देह रूपी वृक्ष पर समान रूप से बैठा हुआ जीव मोह में निमग्न है और ऐश्वर्य रहित होकर शोक करता है। परन्तु जब दूसरे "ईश्वर" को प्रसन्न देख लेता है, शोक रहित हो जाता है ! !

यदा पश्य:पश्यते रुक्म-वर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान-पुण्य-पापे विधूय निरंजन: परमं साम्य मुपैति ॥

अर्थ–जब द्रष्टा रूपी जीव स्वर्णसदृश्य चमकते हुये ईश्वर को देख लेता है जो सब का करतार है और वेदों का भी कारण है तब सबका वह द्रष्टा पुण्य पाप दोनों को झटककर निरंजन ईश्वर की परम साम्यता को प्राप्त कर लेता है।

"प्राणोह्येषय: सर्वभूतै विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी।
आत्मंक्रीड आत्मरति: क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ट: ॥

अर्थ–वही सबका प्राण है जो सब प्राणीमात्र में प्रकाशमान हो रहा है। उसको जानने वाला वाद विवाद में नहीं पड़ता। और अपने अंतर में ही आत्मरमण करता है और संसार के सब कर्म भी करता है। ऐसा मनुष्य ब्रह्मवेत्ताओं में वरिष्ठ माना गया है।

इन कुछ ऋचाओं से स्पष्ट है कि वेद "आत्म साक्षात्कार" द्वारा ब्रह्म प्राप्ति पर कितना बल देता है।

जिसके सामने संसार का अखिल वैभव, राज्य-संपत्ति तुच्छ है। जो शांति नहीं दे सकते। देखने में आता है कि सर्वत्र अशांत दु:खमय जीवन से त्रस्त इधर से उधर भटकते फिरते हैं। आगे चलकर ऋचा स्वयं कहती है :

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदु: ।
यस्तन्न वेद किं ऋचा करिष्यतिय इत्त द्विदुस्त इमे समासते ॥

अर्थ–ऋचा में कहे गये परम आकाश रूपी ब्रह्म को जिसमें सब देव उसके आश्रित हैं, जिसने उसे नहीं जाना तो ऋचा उसकी क्या सहायता करेगी ? और जिसने ही उसको जाना है वे उसके साम्य भाव को प्राप्त कर लेते हैं।

अन्न सेवन ये भी यज्ञ है

ऋग्वेद में ऐसे भी सूक्त हैं जिनसे सर्पादिकाविष उतारा जा सकता है। परन्तु मैं यहाँ एक ऐसे सूक्त की ओर आप लोगों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ जो "अजीर्ण" के रोगियों के लिये औषधि रूप है।

गायनाचार्य कहते हैं कि (मंडल १ अध्याय २४ सूक्त १८७)।

पितुन्नु इत्यादि सूक्त का विनियोग शौनक जी इस प्रकार कहते हैं "पितुन्नुइति" इस सुक्त को अन्न सामने आने पर इस सूक्त का नित्य पठण करके बैठे और अन्न का पूजन करके ग्रहण करे, ऐसे आदमी को अन्न से उत्पन्न होनेवाली व्याधियाँ नहीं होतीं। विष भी अमृत हो जाता है। यदि कोई विष पीकर इस सूक्त का जप करे तो विष का इससे नाश होता है।

जीवन की महत्ता

सब व्याधियाँ पेट से ही होती हैं। पेट ही मृत्यु का कारण बनता है। मनुष्य स्वाद लेकर अन्न खाता है परन्तु उपर्युक्त श्रृति में निर्दिष्ट शांति रूपी स्वादुफल नहीं चखता और संसार के दुःखमय भोगों में फँसा रहकर अपने जीवन को कोसता है। वास्तव में सब विषय सुख, दुःख रूपी ही हैं व कभी-कभी जीवन आत्म-हत्या करने पर भी उतारू हो जाता है। यह देह कितनी मूल्यवान है। वह नहीं जानता कि इसमें ईश्वर का निवास है। जिसके साक्षात्कार द्वारा जन्म मरण से मुक्ति मिलती है।

अथर्ववेद में इस देह को अयोध्यापुरी कहा है जो राम की राजधानी है।

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषा वृतः॥

(अ. कांड १० सूक्त २ मंत्र ३१)

अर्थ–आठ चक्र व नवद्वार वाली यह देवताओं की अयोध्यापुरी है। उसके अन्दर स्वर्णमय कोश स्वर्ग रूपी है जो प्रकाश से आवृत है।

तस्मिन् हिरण्मये कोशे त्र्यऽरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन्यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वैब्रह्म विदो विदुः॥

(अ. वे. कांड १० सूक्त २ मंत्र ३२)

अर्थः–जिस हिरण्मय कोश में तीन आरो-वाला और त्रिविध प्रतिष्ठित है। उसमें जो परमात्मा रूपी यक्ष आत्मवत् है। (अर्थात् जो अपना अंतरात्मा ही है) उसको ब्रह्म के जानने-वाले जानते हैं। अर्थात् अपने हृदय में विराज-मान ईश्वर को साक्षात् कर लेता है, वह ब्रह्मवेत्ता है।

अन्यत्र ऋग्वेद मंडल ५ अध्याय ४ सूक्त ४७ ऋचा ५ में भी वेद कहता है:—

इदं वपुर्निवचनं जनासश्चरन्ति यन्नद्य स्तस्थुरापः।
द्वे यदीं विभृतो मातुरन्ये इहेह जाते यम्याउ सबन्धू॥

अर्थः–हे मनुष्यों, यह तुम्हारा देह स्तुति के योग्य है। जिसमें यह नदीरूपी शक्तियाँ ब्रह्म तेजरूपी जल से भरी, बह रही है। और माता के गर्भ से ही जन्म लेकर उस आदि शक्ति को धारण किये हुये दोनों सुपर्णा ईश व जीव यमज बंधू (Twins) रहते हैं ऐसे देह को भोगों में नष्ट करना कितना पाप है।

आर्यवैदिक संस्कृति का ध्येय भोग नहीं वरन् त्याग एवं तपस्या है। यहाँ जीवन को चार आश्रम में विभक्त किया गया है। ब्रह्म-चर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास चारों में गृहस्थाश्रम ही एक ऐसा है जो भोगों का स्थान कहा जा सकता है। अन्य तीन ब्रह्मचर्य एवं तपोमय हैं।

तप के पश्चात् भोग और भोग के पश्चात् फिर तप का अभिप्राय, भोग नहीं वरन् भोगों में रहकर त्याग ही हो सकता है। जैसा कि यजुर्वेद अध्याय ४० के प्रथम मंत्र में कहा गया।

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत।
तेन त्यक्तेत भुंजीथा मा गृधः कस्य स्वध्दनम॥

अर्थः—इस जगत में जो कुछ जगतपना है। उसमें ईश्वर बसा हुआ है ऐसा देखो और इस जगत के भोगों को त्यागपूर्वक भोगो अर्थात् अनासक्त रह कर भोगो। किसी के धन की लालसा मत करो। यह धन किसका है। अर्थात् किसी का नहीं।

गृहस्थाश्रम का महत्व

गृहस्थाश्रम का उद्देश्य वैदिक रीति से नियमपूर्वक संयम के साथ इंद्रियों के संयम और मनो निग्रह के अभ्यास को दृढ़ करना है। जैसे पानी में उतरे बिना तैरना नहीं सीखा जा सकता उसी प्रकार भोगों में उतरे बिना उनसे ऊपर उठना नहीं सीखा जा सकता। इस दृष्टि से वैदिक गृहस्थाश्रम त्याग सिखाता है। न कि भोग प्रदान करता है

आध्यात्मिक सोम योग

यह मैं पहिले कह चुका हूँ। जो देवता ब्रह्मांड में है वे ही शरीर में भी निवास करते हैं। वैदिक यज्ञों में यंत्र तंत्र यही मिलता है कि इंद्र, अश्विनी कुमार अथवा अन्य किसी देवता को सोमपानार्थ आवाहन किया जा रहा है। और सोमयाग एक स्वतंत्र यज्ञ भी है। उसका यांत्रिक स्वरूप कर्मकांड का विषय है। परन्तु मैं यहाँ अध्यात्म यज्ञ की ओर आप लोगों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। गीता में भगवान ने १५वें अध्याय में कहा है।

पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥

इसलिये जो कुछ खाया पिया जाता है वो सोम ही है। अन्नरूपी सोम की आहुति वैश्वानर अग्नि में दी जाती है।

बृहत् जाबालोपनिषत् में विश्व को अग्नि सोमात्मक ही माना है "अग्नि सोमात्मक विश्व"

अग्नेरमृतनिष्पत्तिरमृते नाग्निरेधते ॥
अतएव हविः क्लुप्तं मग्नीषोमात्मकं जगत् ॥

(बृ. जा. ब्रा. २ सू. ४)

अर्थः—अग्नि ये अमृत (सोम) की निष्पत्ती है। सोम से अग्नि बढ़ती है। इसलिये कल्पना की जाती है कि यह सारा अग्निसोमात्मकं जगत् हवि है। आगे चलकर इसी ब्राह्मण की अंतिम श्रुति में कहा गया है कि योगमार्ग द्वारा जो मनुष्य शिवरूपी अग्नि से अपने शरीर को भस्म करके शक्तिरूपी सोमामृत से शरीर को पावित्र करता है वह मुक्त हो जाता है।

शिवाग्निना तनुं दग्ध्वा शक्तिसोमामृतेन यः।
प्लावयेद्योग मार्गेण सोऽमृतत्वायकल्पते सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥

ऐतरेयोपनिषत् के अनुसार मुख में वाणी-रूपी अग्नि, घ्राण में वायुचक्षु में आदित्य, मन में चन्द्रमा अपान में मृत्यु, वीर्य में जल इत्यादि देवता वास करते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र कहा है हातों में इन्द्र, पैरों में विष्णु-अहंकार में शंकर, बुद्धि में ब्रह्मा का वास है। जैसे बाहर यज्ञद्वारा सोम की आहुति अग्निदेव देवताओं तक पहुँचाते हैं उसी प्रकार वैश्वानर-अग्निरूपी सोम को पचाकर सब शरीरस्थ देवताओं को पहुँचाते हैं। और मनुष्य का खान-पान सोमयाग के तुल्य है। ऐसा जो समझता है उसे अन्नरूपी दोष नहीं लगता। प्रकृति भी ग्रीष्म के पश्चात् वर्षाऋतु लाकर वनस्पतियों को उत्पन्न करती है। अर्थात् अग्नि में तपाकर सोम की वर्षा करके अन्न को उत्पन्न करती है। जिसके योग से वर्षा होती है।

वैदिक सोम जो पुराण काल में ऋषिगण यज्ञों में निचोड़ा करते थे उस पर विद्वानों के अनेक मत हैं कि वह क्या था।

उक्त जाबालब्राह्मण श्रुतियों से—वो सोम यद्यपि आज उपलब्ध नहीं है तथापि योगमार्ग द्वारा सोम की उपलब्धि देह में की जा सकती है जिसका मनुष्य देह के अन्तर में ही निर्माण होता है। और उसकी आहुति से शरीरस्थ देवताओं की दिव्य शक्तियाँ जागृत की जा सकती हैं।

योगों में श्रद्धा का स्थान

बर्हियागों में श्रद्धा का स्थान सर्वतोपरि है। श्रद्धा से युक्त होकर जो आहुति दी जावेगी वह शीघ्र फलदायिनी होगी। श्रद्धारहित कार्य भस्म में आहुति देने के समान है। गीता में भगवान ने कहा है।

"अन्नाद्भवन्ति भूतानि, पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्म समुद्भवः।

तो श्रद्धायुक्त यज्ञ करने से फलस्वरूप जो अन्न होगा वह सात्विक होगा। उसके खाने-वाले भी सात्विक होंगे। उसकी संतानें भी सात्विक होंगी। प्रकृति तो अपना यज्ञ सदा किया ही करती है। ग्रीष्मऋतु के बाद वर्षा होती ही है। अन्न भी पैदा होते ही हैं। परन्तु

यज्ञों का अभाव होने के कारण प्रकृति में सत्व गुण की कमी होना अनिवार्य है। साथ ही अस्त्रों के विस्फोट जो प्रतिहिंसा के परिणाम होते हैं और नित्य की अग्नियों में लोभ, मोह-युक्त जो कृत्य किये जाते हैं—न बलिवैश्वे देव है न अग्निहोत्र इ:—

बड़े यज्ञ तो हैं ही कहाँ? इससे सात्विक श्रद्धा के स्थान पर हिंसा, लोभ, मोह इत्यादि की लहरिया पर्जन्य (Electric Zone) पर आक्रमण करती रहती है। और उनसे प्रभावित वर्षा से उत्पन्न होनेवाले अन्न भी उन्हीं भावों से युक्त होते हैं। और जगत में नित्यशः अशांति, ईर्षा, द्वेष इत्यादि बढ़ते जा रहे हैं। और भारतवर्ष में यदि यदाकदा किसी यज्ञ का आयोजन किया जाता है तो बहुधा वह विधि-विधान से दूर एक दिखावा आडंबर मात्र होता है जिसका उद्देश्य केवल धन कमाना या ख्याति प्राप्त करना मात्र होता है।

वेदों की प्रचीनता

यह ऊपर कहा जा चुका है कि वेद अपौषेय है और उनके ऋषि मंत्र द्रष्टा कहे जाते हैं। इसलिये वेदों पर गाथायें भी मिलती हैं। जिनके कारण कुछ विद्वान आपत्ति उठाते हैं कि वे उन गाथाओं के पश्चात् लिखे जाने के कारण अपौरूषेय नहीं हो सकते वे ये भूल जाते हैं कि संसार अनादि है। और वेदों का ज्ञान भी अनादि है। गाथाओं का उल्लेख उन ऋषियों का अपना हो सकता है। ऐति-हासिक दृष्टि से उन ऋषियों का युग निर्धा-रित करना कठिन है। और सब ऋषियों का समकालीन होना भी अवश्यक नहीं।

सूक्त शब्द का अर्थ सुउक्ति है। अर्थात् वेद को अनेक ऋषियों की सुउक्तियों का संग्रह कहना चाहिये। जिन्हें वे समय-समय पर लिपि-बद्ध करते रहे हैं। वैदिक भाषा की दृष्टि से भी ये बात दृष्टिगोचर होती है। ऋक् संहिता के अनेक मंत्र ऐसे हैं कि जिनका अर्थ अभी तक कोई नहीं लगा सका। परन्तु एक बात स्पष्ट है जो विचारधारा दार्शनिक अथवा ज्ञान संबंधी विचार मिलते हैं, वे आज भी अपनी प्रमाणिकता को नहीं खोते। वरन् आधुनिक विज्ञान भी उनका समर्थन ही करता है। उदा-हरणार्थ ५वें नासदीय सूक्त में एक ब्रह्मवाद का प्रतिपादन मिलता है। और उसमें कथित सृष्टिक्रम, मानसिक शक्ति का कार्य सर्वमान्य है। आज का पाश्चात्य जगत् भी स्वीकार करने लगा है कि जगत का आदिकारण विभुचेतनसत्ता (Universal Consciousness) की शक्ति हो सकती है।

उक्त सूक्त की चौथी ऋचा में (मनसो रेत :प्रथमं यदासीत) और पांचवी में (तिर-श्चिनो विततो रश्मि रेषामधः स्विदासीदुपरि-स्विदासीत्। इन पदों से स्पष्ट है कि आदि-विभु-मन की किरण जो चारों तरफ फैली, वे शक्ति की स्त्रोत थीं। जिनको ऋग्वेद में मं. १० अध्याय ६ सू. ७२ में अदिति के पुत्र देवता कहा गया है। जिनकी शक्ति के तीव्र होने पर रेणुकाकार अर्थात् परमाणुओं का रूप धारण कर लेती है। ये भाव इस सूक्त के छठे सातवीं ऋचा में बड़े सुन्दर, कवि की भाषा में इस प्रकार मिलते हैं—

अत्रा वो नृत्यतामिव, तीव्रो रेणुरपायत इ.

अर्थ :—वे देवता नृत्य करने लगे जिससे रेणुओं की वर्षा होने लगी। और उनसे समुद्र से लेकर सूर्य तक अखिल विश्व की रचना हुई। वेदों में इसी प्रकार के अकाश्य भाव, उनकी नित्यता का प्रमाण है।

वेदों का युग

मेक्समूलर, थीबो प्रभत्ति पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक वाङ्मय को पढ़ा और उन्हें पूर्व-कालीन गड़रियों के गानों से उपमित किया। वे वैदिक वाङ्मय के रहस्यमय तात्विक भावों को न समझ सके। और कर्मकांड के विषय को

तो वे समझते ही कैसे ? जिसका आधार अधिदैविक विज्ञान है।

अध्यात्मिक विज्ञान भौतिक दृष्टिवालों की दृष्टि में कुछ आ सकता है। परन्तु अधिदैविक विज्ञान भौतिकता के ऊपर की वस्तु है। इन पाश्चात्य विद्वानों के मत से वैदिक ऋषियों का समय अढ़ाई तीन हजार वर्षों से अधिक कूता नहीं जा सका। बात भी उचित ही है। उस समय का योरप जंगली मानव जाति का निवास-स्थान था। जिसे "पत्थर का युग" (Stone Age) कहा जाता है।

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने उनका भली भाँति खंडन किया है। उन्होंने अपने पांडित्य पूर्ण ग्रंथ (Orion) ओरियन एव (Artic home in the Vedas) में सिद्ध किया है कि वेद तीन हजार वर्ष से कहीं अधिक प्राचीन हैं। क्योंकि ऋग्वेद और तैत्तिरीय संहिता में अनेक ऐसे भाव और गाथाएँ प्रचुर मात्रा में मिलती है। जो हिम युग (Glacial Epoch) के पूर्व उत्तर-ध्रुव पर रहने वाली आर्य जाति का स्मृति दिलाते हैं। और हिम-युग को समाप्त हुवे भौतिक विज्ञान वेत्ताओं के अनुसार दस हजार वर्ष व्यतीत हो चुके।

मैं तो श्री लोकमान्य से भी सहमत नहीं हूँ। क्योंकि उन्होंने मंत्रों का जिस प्रकार अर्थ किया है और उसे पढ़कर वेदों के प्रति जो हमारी श्रद्धा व आस्था है वह नहीं रहती।

पाश्चात्य विद्वानों ने उन्हें गड़रियों का गीत कहा है। और लोकमान्य ने उत्तर ध्रुव पर निवास करने वाले वहाँ की दीर्घकालीन रात्रियों से भीत अनभिज्ञ अपनी संकीर्ण परिस्थितिओं का गान करने वाले बताया है। दोनों में अन्तर कुछ थोड़ा ही है।

उदाहरणार्थ :—

अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्व स्परि।
देवाँ उप प्रै त् सप्तभिः परा मार्ताण्ड मास्यत्॥

इस मंत्र का अर्थ लोकमान्य इस प्रकार करते हैं कि अदिति के आठ पुत्र हुये। उनमें से सातवें सूर्य हैं जो उत्तर ध्रुव के आकाश मंडल में सात महीने तक दिखते रहे। वे सात पुत्र अदिति देवताओं के पास ले गई। और आठवाँ-आठवाँ क्षितिज के नीचे होने के कारण मृत्यु को प्राप्त हुआ। इसलिये उसको मार्तंड कहा जाता है।

पूरे सूक्त को पढ़ने से इस अर्थ की संगति नहीं लगती। वास्तविक भाव यह है कि अदिति के पहले सात पुत्र अमृत-बंधु आकार रहित थे। और आठवें का रूप अंडाकार हुवा। आकार की ही मृत्यु सम्भव है। क्योंकि आकार खंडित हो सकता है। इसलिये साकार सूर्य से मृत्यु का आरम्भ हुआ। उनके पहले के शक्तिरूपी देवताओं को अमृत-बन्धु कहा गया है। और साकाररूपी सूर्य को मार्तण्ड नाम दिया गया। क्योंकि वह सर्व प्रथम मृत्यु के लिये अंडा बना। (मृत्यवे अण्डं इति मार्तंडः)

वेदों का समय ऐसी युक्तियों पर निर्धारित किया जाना एक देशीय कल्पना मात्र है। वेदों का ज्ञान सार्वभौम, भूत भविष्य, वर्तमान तीनों कालों के लिए एक समान सत्य है इसलिये हम वेदों को नित्य एवं अपौरुषेय कहते हैं।

वैदिक प्रमाणिकता

वेदों को सर्व प्रथम प्रमाण माना जाता है। अन्य तांत्रिक अथवा पौराणिक, ऐतिहासिक जिनमें भी साहित्य की रचना हुई है। यदि वो वेद-विरोधी हों तो वो प्रमाणित नहीं मानी जाती। उनकी प्रमाणिकता वेदानुकूल होने तक ही सीमित है। इसलिये आधुनिक युग में तांत्रिक अथवा पौराणिक उपासना पद्धतियाँ जो प्रचलित हैं, वेदानुकूल प्रमाणित होने के कारण ही वे सन्मानित मानी जाती हैं।

जब तक वैदिक कर्मकांड का प्रचार रहा, वेदों का पठण पाठण को प्रोत्साहन मिलता

रहा। परन्तु इस युग में जो सामान्य जनता में कर्मकांड की ओर उपेक्षा वृत्ति बढ़ती जा रही है उतना ही वैदिक वाङमय का पठण पाठण भी अवनति पर है।

वेद की आध्यात्मिकता

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि वेदों का महत्व जितना कर्मकांड के कारण है उससे अधिक महत्व आध्यात्मिक ज्ञान के कारण है। इसलिये इस युग में संहिताओं की अपेक्षा उपनिषदों का अधिक प्रचार देखा जाता है।

कर्मकांड में प्रायः बिना अर्थ समझे वैदिक पाठ की आवश्यकता रही है। और प्रायः वे वेदपाठी ब्राह्मण अर्थ की ओर ध्यान नहीं देते और न समझने का प्रयास करते हैं। यदि वेदों को आध्यात्मिक दृष्टिकोण से समझने और समझाने की ओर विद्वानों का लक्ष हुआ तो वैदिक पठण पाठण अधिक लोकप्रिय हो सकता है। इस युग में सर्व सामान्य जनता की वैदिक कर्मकांड की उपेक्षा होते हुए भी, आध्यात्मिक रुचि पायी जाती है। और प्रायः ये जिज्ञासा की जाती है कि वेदों में क्या लिखा हुआ है। इसलिये ऐसे साहित्य की मैं आवश्यकता समझता हूँ। जिस में वैदिक मंत्रों का आध्यात्मिक अर्थ यथार्थ रूप में जनता के सामने आ सके।

सारांश वैदिक वाङमय, हिन्दू जाति और आर्यसंस्कृति का प्राण है। बिना वेदों के आर्य संस्कृति का कोई महत्व नहीं। ये प्राचीनतम साहित्य है। इससे प्राचीन कोई साहित्य, उपलब्ध नहीं। इसलिये विश्व में जो भी सत्य-धर्म दिखाई देता है, उसका मूल कारण वेद ही हो सकते हैं। चाहे वेदों की भाषा सर्व साधारण जनता के समझ में नहीं आती तो भी विद्वानों का लक्ष उधर जाये बिना नहीं रहता। वेदों में सर्व प्रकार का ज्ञान मिलता है और उनको किसी भी दृष्टिकोण से देखा जाय, तो वैदिक वाङमय पूर्णता लिये हुए ही देख पड़ता है।

हमने ऊपर कुछ अंश में वेद का महत्व एवं प्राचीनत्व दिखाने का यत्न किया है संभव है उसमें अनेक त्रुटियाँ हो सकती हैं किन्तु मैं आशा करता हूँ कि विद्वत् समाज उन त्रुटियों की ओर लक्ष न देकर हंसक्षीर न्याय से आधुनिक युग में जो आवश्यक समझे उन पर अपना उचित ध्यान देने की कृपा करें।

श्री अरविन्द का योग समन्वय

[*व्योहार राजेन्द्रसिंह*]

संपूर्ण जीवन ही योग है

प्रकृति की प्रक्रिया की दो अवश्यकताएँ हैं जो कि मनुष्य के कार्य कलाप के बीच में आती हैं चाहे वह हमारे दैनिक जीवन से संबंध रखती हों या उच्चतर जीवन से। वे हमें विविधता और संपूर्णता की ओर ले जाती हैं। वस्तुओं के रूप विभिन्नता की शाखाओं में विभक्त हो जाते हैं और फिर वे एकता और समन्वय की ओर आते हैं। दूसरे इन रूपों का विकास आत्मा के क्रियात्मक प्रगटीकरण का एक आवश्यक नियम है। तो भी कोई भी सत्य या प्रणाली हो वह जब पुरानी पड़ जाती है तब उसका अधिकांश सत्व चला जाता है। इसलिये यह आवश्यक हो जाता है कि उस योग को पुनर्जीवित किया जावे। आत्मिक ज्ञान के नवीन स्रोतों से उसके मृत शरीर को बारबार पुनः शक्ति युक्त करना आवश्यक होता

है। उसको नव जीवन देने के लिये कभी-कभी मृत वाहन को भी बदलना होता है। पार्थिव अमरता को संभव रखने के लिये उसे फिर-फिर पुनर्जन्म लेना पड़ता है।

हम ऐसे युग में रह रहे हैं जिसमें सभी विचारों को जिसमें कुछ भी शक्ति और समर्थ्य है उनको कठिन कसौटी पर कसा जा रहा है और नवीन जीवन दिया जा रहा है। सभी वस्तुओं को एक पात्र में डालकर उनकी परीक्षा कर खण्ड-खण्ड कर फिर से गलाकर नवीन ढाँचों में ढाला जा रहा है।

योग असल में वह महान प्रकृति की शक्तियों का विशेष कार्य है जो विभाजित और नवीन रूप ग्रहण करने पर मानवता के भविष्य के लिये एक बहुत शक्तिशाली साधन सिद्ध हो। वह अनन्त युगों से अपनी शक्ति के कारण आज तक चला आ रहा है। अब वह अपने गुप्त निवासों से बाहर निकल कर जीवित मानव शक्तियों के रूप में प्रगट हो रहा है। किन्तु उसे अपने आपको खोज निकालना होगा। प्रकृति के उद्देश्य को उसे सतह पर लाना होगा जिसका वह प्रतिनिधि है। इस आत्म ज्ञान से उसे नवीन और विशाल समन्वय के रूप में प्रगट होना होगा। स्वयं संगठित होकर वह मनुष्य जाति में प्रवेश करेगा और उसे सर्वोच्च शिखर तक पहुँचाने में सफल होगा।

जीवन और योग दोनों की दृष्टि से जाने या न जाने संपूर्ण जीवन एक महान योग है। योग का अर्थ है आत्म पूर्णता की दिशा में नियमित प्रयत्न, आत्मा में निहित शक्तियों का प्रकाश कर व्यक्ति को समष्टि के साथ और उसके परे परमात्म-तत्व के साथ युक्त करना जिसका कुछ भाग हमें मनुष्य और विश्व में दृष्टिगोचर होता है। समग्र जीवन भी हमें प्रकृति का योग जान पड़ता है जिसके द्वारा वह अपनी शक्तियों को प्रगट कर अपने दिव्य स्वरूप से एक रूप होने और पूर्णता प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस पृथ्वी पर पहली बार मनुष्य के रूप में वह स्वयं जाग्रत उपायों और निश्चित क्रिया कलापों को रचता है। जिनके द्वारा उनका यह उद्देश्य शीघ्रता से सफल हो जावे। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में योग एक ही जीवन में अपने विकास को केन्द्रित करने का प्रयत्न है—एक जीवन में क्या कुछ वर्षों या महीनों ही में यह स्थिति प्राप्त की जा सकती है। अभी तक हम जिस शक्ति और सामग्री को ढीले पोले ढंग से उपयोग कर रहे हैं उसे संकीर्ण किन्तु अधिक शक्तिशाली रूपों में केन्द्रित (Compress) करना ही योग है। वह परम शक्ति इसे अधिक पूर्ण संयोजनों के द्वारा अपनी उच्चतर यात्रा में सहायक बना रही है। यही विस्तृत व्याख्या विभिन्न योग प्रक्रियाओं की युक्ति मुक्त समन्वय का आधार-बन सकती है। फिर योग एक रहस्य पथ और जन साधारण वस्तु नहीं रह जाता जिससे विश्व शक्ति के क्रिया कलापों से कोई संबंध नहीं। वह शक्ति अपने आत्मगत और वहिर्गत दोहरी क्रियाओं द्वारा आत्म पूर्णता की ओर बढ़ रही है। वह अपनी शक्तियों की तीव्रता तथा विशेष प्रयोग कर रही हैं। उन शक्तियों को उसने साधारण कार्यों में भी प्रगट कर दिया है और उन्हें संगठित करती जा रही है।

जिस प्रकार हम प्राकृतिक विद्युत् या भाफ की शक्तियों का विज्ञान द्वारा दैनिक जीवन में उपभोग कर लेते हैं उसी प्रकार हम योग की प्रक्रियाओं का मानसिक क्रियाओं में प्रयोग कर सकते हैं। वे भी प्रयोग विश्लेषण और परिमाणों पर (वैज्ञानिक प्रयोगों के समान) आधारित है। हमारी आन्तरिक शक्तियाँ जिस प्रकार एकत्र या अलग-अलग की जा सकती हैं। उसी प्रकार फिर से एकत्र कर नये-नये कार्यों में लगाई जा सकती हैं। यही तो राज योग का साधन है। उसी प्रकार प्राण की शक्तियाँ जो दैनिक जीवन में लगी हुई हैं उन पर अधिकार

प्राप्त कर किस प्रकार उन्हें संयमित या परिवर्तित किया जा सकता है यही हठ योग बताता है। इन्हीं प्रयोगों को लोग आश्चर्यजनक और असंभव समझने लगते हैं।

इसी प्रकार दूसरे रूपों में भी जैसे भक्ति-योग या ज्ञान योग में योग का यह रूप हमें ऊपर से नहीं दीखता है क्योंकि वे यांत्रिक नहीं बल्कि अधिक मानसिक हैं। वे भक्ति आत्मिक आनन्द और ज्ञान आत्मिक चेतना के अधिक समीप है। तो भी वे हममें सुप्त है—किसी न किसी शक्ति से संबंधित हैं जो हमें दैनिक जीवन में ऊपर से नहीं दीख पड़ती। जो क्रियाएँ योगिक क्रियाओं के नाम से पुकारी जाती हैं वे सब विशेष मनस्तत्व से सम्बन्धित हैं और प्रकृति के साधारण तत्वों और मूल शक्तियों पर आधारित हैं। वे हमारे जीवन में ऊपर के कार्य कलापों में नहीं दीख पड़तीं किन्तु हमारे भीतर छिपी हुई हैं। वैज्ञानिक प्रणालियों की बहुतायत से भी हानि हो सकती हैं क्योंकि उससे कृत्रिमता बढ़ती है जो हमारे स्वाभाविक जीवन को दबा देता है। कुछ बातों में तो हमें स्वतंत्रता मिल जाती है पर दूसरी बातों में हमें गुलाम भी बना देती है। उसी प्रकार योग क्रियायों की भी हानियाँ हैं। लोग समझते हैं कि योगी साधारण जीवन से विछिन्न हो जाता है। वह आत्मिक धन को तो संचित कर लेता है किन्तु मानवीय क्रियाओं में दरिद्र हो जाता है। उसे आन्तरिक स्वतन्त्रता तो मिल जाती है किन्तु वाह्य संसार में मृत के समान हो जाता हैं और यदि वह जीवन पर विजय पाने को कहता हो तो ईश्वर को खो बैठने के खतरे में रहता है। इसीलिये भारत वर्ष में हम आत्मिक जीवन और सांसारिक जीवन में विरोध सा देखते हैं। यद्यपि हमारा आदर्श आन्तरिक जीवन वाह्य जीवन में सामञ्जस्य स्थापन करता है किन्तु व्यवहार में वह बहुत कम उतरता है। जब मनुष्य अपनी शक्तियाँ आन्तरिक जीवन की ओर मोड़ता है और योग में लगता है तो वह सामूहिक जीवन के स्रोत से विच्छिन्न हो जाता है और मानवता के सांसारिक प्रयत्नों से अलग माना जाता है। यह विचार इतना अधिक प्रचलित हो गया है, वर्तमान तत्व ज्ञान द्वारा इस पर इतना अधिक जोर दिया गया है कि जीवन से पलायन करना केवल आवश्यक ही नहीं समझा जाता वरन योग का उद्देश्य भी समझा जाने लगा है।

किन्तु कोई भी योग का समन्वय तब तक संतोषजनक नहीं समझा जाना चाहिये जब तक वह अपने उद्देश्यों में स्वतन्त्र और पूर्ण मानव जीवन में ईश्वर और प्रकृति का मेल न करा दे और अपने उपायों में हमारे आंतरिक और वाह्य क्रियायों और अनुभवों में एकसष्टता स्थापित न करा दे तथा अन्त में दोनों दिव्य रूप में एक दूसरे में घुल-मिल न जावें। मनुष्य असल में—दिव्य जीवन का प्रतीक है जो कि पृथ्वी पर इसलिये उतरा है जिसमें निम्न जीवन उच्चता में परिवर्तित हो सके और उच्चतर जीवन निम्नतर में प्रकट हो सके। अतः ऐसे जीवन से बचना जो हमें इस संभावना की पूर्ति के लिये किया गया है—हमारे प्रयत्न की कभी अनिवार्य शर्त नहीं हो सकती—वह न तो अन्तिम उद्देश्य हो सकता है। और न उसे आत्म परिपूर्णता का साधन ही कहा जा सकता है। वह तो केवल एक तात्कालिक आवश्यकता मात्र ही हो सकती है। कुछ परिस्थितियों के अथवा विशेष चरम प्रयत्न के लिये आवश्यक हो सकता है जिसमें कि सम्पूर्ण जाति की उन्नति के लिये अधिक सफलता का मार्ग खुल सके। योग का पूर्ण उद्देश्य तभी पूर्ण होगा जब कि मनुष्य का सचेतन प्रयत्न प्रकृति के अन्तश्चेतन प्रयत्न समग्र जीवन से एक रूप हो उठे और हम उसके पंथ और प्राप्ति दोनों को दृष्टि से कह सकें कि सम्पूर्ण जीवन ही योग है।

———

परमार्थ पथ की बाधाएँ

शिवशंकर मिश्र

एक अवकाश-प्राप्त न्यायाधीश की मुझ पर कृपा थी। प्रायः ही उनके दर्शनों के लिए जाया करता था। जीवन की शाम में उन्होंने परमार्थ का व्रत ले लिया था। जो कोई भी उनके पास जाता उनकी सेवा और सहानुभूति अवश्य प्राप्त करता। यह क्रम उनका वर्षों चलता रहा। एकाएक कुछ ऐसा प्रतीत हुआ कि उन्होंने परमार्थ-भाव को झकझोर कर दूर फेंक दिया, आगतों से मिलना-जुलना बंद-सा कर दिया और फिर एक दिन उन्होंने मुझे बुलाकर समझाते हुए कहा—अगर सुख और शांति से जीवन व्यतीत करना चाहते हो और आत्मोन्नति के स्वप्न को साकार करने की तुम्हारी अभिलाषा है तो परमार्थ का चक्कर छोड़ दो और दूसरों के सुख-दुख की तरफ से अपना मुँह मोड़ लो। मेरे ७० वर्ष के अनुभव का सार ग्रहण करो—जीवन में जिसके लिए जितना करोगे वह तुम्हारे लिए उतना ही कष्ट का साधन बनेगा।

आज मेरे श्रद्धेय न्यायाधीश इस संसार में नहीं है। पर कोई दिन ऐसा नहीं बीतता कि उनके इस कथन की सत्यता मेरे सम्मुख किसी न किसी रूप में न आ जाय। और क्या करूँ इस हठीले मन को कि उपर्युक्त कथन के सत्य को स्वीकार करने से जी चुराता है।

आज के संसार में प्रायः सभी न्यायाधीश महोदय के निर्णय की मान्यता से सहमत होंगे। ऐसी स्थिति में यह शंका स्वभाविक ही है कि क्या युग-युग से पोषित परमार्थ-भावना विडंबना मात्र है।

श्री मद्भागवत् में कहा गया है—

सर्वभूतेषु चः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्मेष भागवतोत्तमः॥

प्राणिमात्र में प्रभु की कल्पना का प्रयोजन ही यह है कि एक दूसरे के प्रति योग और सहानुभूति की भावना रखी जाय। पर हित और पर सेवा मानव मात्र के अनुपम गुण माने जाते रहे हैं। हमारी संस्कृति ऐसे कोटि-कोटि त्यागी पुरुषों की गाथा से भरी हुई हैं जिन्होंने दूसरों के लिए अपना जीवन तक न्योछावर कर दिया।

महाकवि तुलसी ने भी कहा है—

साधु चरित शुभ चरित कपासू।
निरस विसद गुनमय फल जासू॥
जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा।
वंदनीय जेहि जग जस पावा॥

महाभारत के एक प्रसंग में तो यहाँ तक बतलाया गया है—'जो अपने आश्रितों को बांट कर स्वयं थोड़ा ही खा लेता है, अधिक काम करके थोड़ा ही आराम करता है और मांगने पर शत्रु को भी दान दे देता है उस आत्मज्ञानी को अनर्थ स्पर्श नहीं करते।'

इस प्रकार हमारे सामने जीवन-दर्शन के दो पक्ष आते हैं। पहला पक्ष तो यह कि परमार्थ भावना केवल अहं का परिवर्तित अथवा यों कहिये परिष्कृत रूप है। उस दिशा में आगे बढ़ने वाला व्यक्ति अकारण अपने को दूसरे से समर्थ और सक्षम मानने लगता है। दूसरे की थोड़ी- सी सहायता करके भी वह उस पर भारी उपकार की गठरी लाद देता है और चाहता है कि वह उसे जीवन भर ढोये। यदि वह ऐसा नहीं करता या कर पाता तो वह क्षुब्ध हो उठता है। यही क्रम चलता रहता है और कालान्तर में अपने आपको परमार्थी की संज्ञा प्रदान करने वाला व्यक्ति अपने चारों ओर मानसिक उद्विग्नता और क्षोभ का वातावरण तैयार कर लेता है।

समस्या का दूसरा पक्ष भी कम विचार-

णीय नहीं। अपने को पूर्ण इकाई मानकर अपने चारों ओर स्वार्थ और लिप्सा की दीवार खींच व्यक्ति अपने आप को संसार से दूर कर लेने की आकांक्षा रखता है। उसका संसार से उतना ही सम्बन्ध रह जाता है जितना उसके स्वार्थ की पूर्ति के लिए अपेक्षित है। कहने को तो वह यह कहता है कि उसे संसार से क्या लेना देना पर बात सच यह है कि उसे संसार से लेने ही लेने की आकांक्षा रहती है—देने की बात भी उसके मन में नहीं आती। सांसारिक दृष्टि में यह लोग अत्यन्त स्वार्थी और कभी-कभी नीच और पतित संज्ञा से भी विभूषित किये जाते हैं।

समाज में प्रायः उपर्युक्त दोनों ही कोटि के व्यक्ति पाये जाते हैं। दूध और पानी की भाँति यह वर्ग समाज में कुछ इस प्रकार घुल मिल गये हैं कि उन्हें पृथक-पृथक कर सकना भी किसी प्रकार संभव नहीं। ऐसा भी हो सकता है कि एक ही व्यक्ति कहीं और कभी स्वार्थी बन जाय और कभी परमार्थी। और सच बात तो यह है कि आज ये दोहरे व्यक्तित्व के युग में स्वार्थी, परमार्थी को भली भाँति समझ और परख सकना भी संभव नहीं।

उपर्युक्त विचार-विभेद किसी भी व्यक्ति को उलझन में डाल सकता है। वस्तुतः आज बहुत से लोग इसी उलझन में हैं भी। लेखक ने भी अपने गुरुजनों से अनेक बार यह शिक्षा प्राप्त की है कि अपने काम से काम रखो, दूसरों की भलाई के चक्कर में न पड़ो। लेखक स्वयं भी कई बार यही सोचने लगता है। चिंतन के क्षणों में विचारपूर्वक इस समस्या का अध्ययन करने पर समस्या का निदान केवल इस प्रकार से ही संभव है।

जब हम दूसरे के साथ सद्व्यवहार या उपकार करते हैं तो हमें यह मान लेना चाहिए कि अपने इस कार्य द्वारा केवल दूसरे का ही हित नहीं करते अपितु अपना भी हित करते हैं। ऐसे कार्यों द्वारा समाज में हमारी जो प्रतिष्ठा बढ़ती है, हम जो सम्मान प्राप्त करते हैं वह हमारे व्यक्तित्व की स्थायी निधि है। इसके बाद हमारी और कोई अपेक्षा न होनी चाहिए और न यह आशा करना चाहिए कि जिसके साथ आज हम उपकार कर रहे हैं कल वह भी हमारे साथ उपकार करे या जीवन भर हमारे अहसान का बोझ लादे। यदि वह ऐसा करता है तो ठीक है, नहीं करता तो यह हमारे लिए चिंता का कारण न होना चाहिए।

एक अँग्रेजी कहावत है कि अच्छाई स्वयं अपना पुरस्कार है। यही ज्योतिस्तंभ हमें सदैव अपने सामने रखना चाहिए। वेदों ने इस सम्बन्ध में कहा भी है—

'सच और झूठ लड़ रहे हैं। परन्तु बुद्धिमान के लिए यह समझना आसान होना चाहिए कि प्रेरणा स्वरूप परमात्मा द्वारा उसी की रक्षा होती है जो विशेष करके सत्य और सरल होता है। उसके यहाँ असत् का कोई काम नहीं।'

यह सच है कि परमार्थ-पथ में बाधाएँ हैं—कभी-कभी प्रत्यक्षतः हानि भी उठानी पड़ती है। फिर भी यह पथ कभी सूना नहीं रहा है। इतिहास साक्षी है कि इस पर चलने वालों ने सदैव मान पाया है। संसार में सर्वोन्नति का लक्ष्य संभवतः इसी मार्ग पर चल कर प्राप्त होता है।

अतः अपनी आत्मा की आवाज सुनकर और उसके अनुरूप ही कार्य कीजिये। और निश्चय ही आपकी आत्मा आपको परमार्थ पथ पर चलने की प्रेरणा देगी तथा देगी वह आत्मशक्ति जिसके सहारे हम इस पथ की बाधाओं पर सहज ही विजय प्राप्त कर सकते हैं।

प्रभुमय जीवन

पूर्ण-भक्ति की प्राप्ति

(श्री लालजी पंड्या)

ईश्वर अनंत शक्तिमय है और हम अपने अन्तःकरण से उस अनन्त शक्तिमय परमात्मा की ओर जितने अधिक अंश में खुले रखेंगे उतनी ही हममें वह शक्ति अधिक प्रकट होगी। क्योंकि ईश्वर को सभी वस्तुएँ प्राप्त रहने से उसमें तन्मय होने वाले के लिए कुछ भी अशक्य नहीं हो सकता। सब वस्तुओं के नियामक परमात्मा में तन्मय होने में ही अपार सामर्थ्य का रहस्य गर्भित होने के कारण हम जितने ही अधिक उसमें तन्मय रहेंगे, उतने ही अंश में हम लौकिक तृष्णाओं को भी अवश्य पार कर जाएँगे।

यदि उपर्युक्त नियम सत्य हो (और वह सत्य है ही) तो फिर सुख प्राप्ति के लिए जहाँ तहाँ दौड़ लगाने से क्या लाभ? उसकी प्राप्ति के लिए नगण्य लौकिक विषयों का चिंतन और सेवन करने से क्या लाभ? पर्वत के शिखर की ओर ही चढ़ते जाने के बदले उसकी खाइयों में या आस-पास भटकने से क्या लाभ? इस संसार के समस्त धर्मग्रंथों में मनुष्य प्राणी को जो सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है, वह उसके दो-दो हाथ पैर वाले शरीर के कारण नहीं, वरन् उसके दैवी स्वभाव के कारण ही है। क्योंकि संसार में ऐसे भी अनेक बड़े और बलवान् पशु विद्यमान हैं, जिनपर स्थूल, दृष्टि से मनुष्य का स्वामित्व (अधिकार) नहीं चल सकता। किन्तु अपने को स्वाभाविक रूप से प्राप्त मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक शक्तियों का उपयोग करने से तो हम उन पशुओं पर भी अपनो सत्ता चला सकते हैं। जो काम शरीर बल से नहीं हो सकता, वह मनोबल से किया जा सकता है। जिस परिमाण में मनुष्य अपने आपको जड़ शरीर मानना छोड़कर आत्मा के रूप में पहचानने, तथा उसके अनुसार जीवन बिताने लगता है, उतने ही अंश में दूसरों की अपेक्षा उसकी शक्ति बढ़ती ही चली जाती है। संसार के धार्मिक साहित्य में जहाँ जहाँ चमत्कारों का वर्णन पाया जाता है वे सब केवल उसी समय और उन्हीं स्थानों में हो सकते हों, सो बात नहीं है। क्योंकि चमत्कार के लिए कोई समय अथवा अमुक योग या स्थान निश्चित नहीं हो सकता। जो कुछ भूतकाल में हो चुका है, वही आज भी उन नियमों का आश्रय लेने से हो सकता है। अतः जो लोग परमात्मा में तन्मय होकर उसकी शक्तियों के द्वार रूप बने थे, उन्होंने वे सब चमत्कार कर दिखाये थे।

अब प्रश्न यह होता है कि 'चमत्कार किसे कहा जाय?' क्या वह कोई अलौकिक घटना है? सामान्य मनुष्य साधारण अवस्था में जो कार्य कर सकते हैं, उसकी अपेक्षा जो घटनाएँ उच्च प्रकार की हों, वही चमत्कार कही जा सकती हैं। चमत्कार का अर्थ इससे भिन्न कुछ न भी नहीं है। सर्वव्यापी, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान परमात्मा में जिसने तल्लीनता अनुभव की हो, वही मनुष्य ईश्वरीय नियम और शक्तियों का ज्ञानपूर्वक सदुपयोग करता है, उसे मर्यादित शक्ति वाले साधारण व्यक्ति चमत्कार मानते हैं, इसलिए ऐसे मनुष्य जिन नियमों और शक्तियों का उपयोग करते हैं, उन नियमों और शक्तियों को भली भाँति समझकर हम भी यदि उनका वैसा ही उपयोग करें तो हम भी वे सब चमत्कार दिखला सकते हैं। साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ज्यों-ज्यों हम निम्न अवस्था से उच्चदशा में आते जाते हैं और जैसे जैसे जड़वाद में से अध्यात्मवाद की ओर पलटते जाते हैं, वैसे वैसे भूतकाल में चमत्कार-रूप समझी जाने

वाली बहनें हमें सामान्य और स्वाभाविक प्रतीत होने लगती हैं; और आज जो चमत्कार रूप जान पड़ती है, वही भविष्य में हमें स्वाभाविक प्रतीत होगी। संसार में प्रारम्भ से ही ऐसा होता चला आया है।

जिस मनुष्य ने ईश्वर में तल्लीनता अनुभव की हो, वही चमत्कारिक प्रतीत होने वाले कार्य करता है और उच्चशक्तियों के साथ परिचय होने के कारण ही दूसरों से वे अलग जान पड़ते हैं।

जो काम एक मनुष्य कर सकता है वही दूसरा भी कर सकता है। क्योंकि सर्वत्र एक ही नियम प्रचलित हो रहा है। हाँ, शक्तिमान या अशक्तिमान होना तो अवश्य हमारे हाथ में है। जिस मनुष्य को पूर्ण विश्वास होता है कि, मैं उच्च स्थिति प्राप्त करूँगा; वही उस दशा को पहुँच सकता है। मनुष्य अपने लिए जो-जो संकुचित मर्यादाएँ और विचार निश्चिय करता है, वही उसे आगे बढ़ने से रोक देते हैं। जिस प्रकार कि दूध की मलाई दूध की अपेक्षा उत्तम होने से ऊपर तैरने लग जाती है; उसी प्रकार संसार में भी जो अपनी उच्च शक्तियों को जाग्रत करता है, वह भी दूसरों की अपेक्षा उत्तम होने से सामान्य मनुष्यों से ऊपर उठ जाता है।

हम बाहरी परिस्थितियों के विषय में बहुत-सी बातें सुनते हैं; किंतु यह बात विश्वास पूर्वक माननीं चाहिए कि परिस्थितियाँ मनुष्य को नहीं बनाती, वरन् मनुष्य ही परिस्थितियों का निर्माण करता है। इसलिए उसे परिस्थितियों को अपनी भावना के अनुसार बनाना चाहिए। जब यह बात हमें भली भांति समझ में आ जाएगी, तभी यह भी ज्ञान हो सकेगा कि अपनी परिस्थिति में से बाहर निकलना भी अनेक बार आवश्यक नहीं होता। क्योंकि हमें उस परिस्थिति में से ही बहुत कुछ सीखना है। और यदि प्राप्त शक्तियों का उपयोग किया जाय तो उस दशा में भी हितकारी अवसर उत्पन्न किये जा सकते हैं।

उपर्युक्त ध्येय वंशपरम्परागत संस्कार के लिए भी प्रयुक्त होने से अनेक बार यह प्रश्न किया जाता है कि 'क्या वंश-परम्परागत संस्कारों पर भी विजय प्राप्त की जा सकती है?' किंतु यथार्थ में जिसे अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान नहीं होगा, वही ऐसे प्रश्न पूछता है।

इसका उत्तर यही है कि यदि हम यह मानते हों कि वंश-परम्परा के संस्कारों पर हम विजय प्राप्त नहीं कर सकते, तो हम असफल ही रहेंगे; और हमारी स्थिति भी वैसी ही बनी रहेगी। किंतु जैसे-जैसे हमें अपने यथार्थ स्वरूप का भान होता जायगा और अपनी प्रचण्ड शक्तियों का ज्ञान होगा, त्यों-त्यों वंश परम्परागत-हानिहारक संस्कार भी अवश्य क्षीण होने लगेंगे और अपने परम स्वरूप का अनुभव होते ही वे सब संस्कार समूल नष्ट हो जाएँगे। एक कवि कहता है कि—

'ऐसी कोई आदत ही नहीं कि जिस पर विजय न प्राप्त हो सके। अमुक बुरी टेव बाप-दादों से विरासत में मिली है, अथवा अमुक टेव या स्वभाव हमारे जीवन को सदैव के लिए नीरस और दंडनीय बनाती है। इस आशय के शब्द कभी अपने मुँह से मत निकालिए।

हमारे पिता और प्रपिता के लिए भी वह शक्ति पूर्णरूप से तैयार थी और अब वह हमारे लिए भी एक पैर पर तैयार खड़ी है। वह शक्ति अत्यन्त सुखमय, दृढ़, उदार, सुन्दर और दिव्य होने के कारण उस पर विश्वास रखने वाले को निश्चित रूप से विजय प्राप्त होती है।

ऐसा एक भी उच्चपद नहीं कि जहाँ हम न पहुँच सकें। समय बीतने पर हम सब प्रकार से विजय प्राप्त कर सकेंगे। इसलिए हमसे जैसी भूलें हुई हों या होती रहें, तो भी सुस्त बनकर पड़े रहने की आवश्यकता नहीं है। बल्कि ईश्वरीय

रक्षा-रूपी ढाल पर आधार रखकर हमें प्रयत्न करते ही रहना चाहिए।

संसार की प्रत्येक वासना या टेव पर हम विजय प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि हम भी उस अनन्त परमात्मा के ही अंश हैं, जिसकी शक्ति के सम्मुख संसार की कोई भी शक्ति टिक नहीं सकती।

अनेक मनुष्य इसलिए हीन कोटि का जीवन बिताते हैं कि उनमें व्यक्ति स्वातन्त्र्य नाम के लिए भी नहीं होगा। यदि आपको प्रभावशाली बनना हो तो अपने आप पर आधार रक्खो स्वतंत्र बनो। अपने आपको दुर्बल मत समझो और मुँह से ये शब्द मत निकालो कि 'हम रंक हैं, हमसे क्या हो सकेगा ?'

जिनमें व्यक्ति-स्वातन्त्र नहीं होता और जो रूढ़ि बन्धनों के हाथ बिक चुके हैं, उन लाखों-करोड़ों की तरह आप भी रूढ़ियों के दासानुदास बन रहे हैं, इसी कारण आपकी यह दुर्दशा हो रही है। अन्त में ऐसा समय भी आ सकता है कि आपने जिन्हें खुश रखने के लिए अनिष्ट रीति-नीतियों का अवलंबन किया था; वे भी आपके प्रति उपेक्षा का भाव धारण कर लेंगे।

आप समझदारी के साथ अपने व्यक्तित्व को बनाये रखने पर ही अपने आपके स्वामी बन सकेंगे क्योंकि अधिक उच्च स्थिति प्राप्त करने में भी ऐसा व्यक्तित्व ही विशेष लाभप्रद सिद्ध हो सकता है। भेड़ों की तरह दूसरों के पीछे लग जाने पर वे लोग आपका जो सम्मान करेंगे, उसकी अपेक्षा अपना व्यक्तित्व बतलाने से समझदार मनुष्य आपके सम्बन्ध में अच्छा मत कायम कर सकेंगे। जो इस प्रकार **सच्चा वीर होता है, वही सब को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है और सब लोग उस पर विश्वास रखते हैं।**

परमात्मा के साथ अपनी अभिन्नता का भान होना ही सबसे अधिक महत्व की बात है। अतः संसार में सबसे पहले करने योग्य कार्य भी यही है। किन्तु यदि कोई यह पूछे कि 'क्या परिस्थिति के अनुसार चलना ठीक नहीं है ?' तो उसे यही उत्तर दिया जा सकता है कि **"उत्तम नीति तो अंतरात्मा का सम्मान रख कर चलना ही है।"** क्योंकि जिस प्रकार दिन के बाद रात्रि निश्चय रूप से आती है, उसी प्रकार अंतरात्मा के प्रति सच्चे रहने वाले को भी उससे कभी धोखा नहीं हो सकता।

यदि हम परमात्मा पर विश्वास रखकर भी लोकमत का भय न रक्खें तो प्रभु भी अवश्य हमारी सहायता करता है। किन्तु यदि लोगों को खुश करने के लिए ही हम अपना जीवन बितावें, तो यथार्थ में लोग उससे प्रसन्न नहीं होंगे; बल्कि जैसे-जैसे उन्हें खुश करने के लिए हम उनके गुलाम बनते जाएँगे, वैसे ही वैसे हमारी तरफ उनकी मांग (या आकांक्षा) बढ़ती ही जायगी। इस लिए **"अपना जीवन हमें कैसे बिताना और विकसित करना चाहिये, यह हमारे और परमात्मा के** बीच निर्णय होने वाला प्रश्न है। फिर यदि हम सर्व साधारण व्यक्ति-समूह की प्रेरणा से चलें तो अवश्य हम मिथ्या मार्ग पर जाने के भय में हैं।

जब हमें अपने आंतरिक स्वराज्य का भान होता है और सर्व नियंता परमात्मा को अपने जीवन का मध्य बिन्दु बना लेते हैं, तब तो हम स्वयं ही नियमरूप बन जाते हैं और तभी रूढ़ियों के दासों को अनिष्ट पथ से मुक्त करने का काम अपने हाथों में ले सकते हैं।

वह परमात्मा रूपी लक्ष्यबिन्दु जब भी हमारे लिए सिद्ध हो जाता है, तभी वह मनोहर सरलता, जो कि महापुरुषों को आकर्षक बनाती हैं; हममें जाग्रत होती है और सारा ही आडम्बर दूर हो जाता है। **क्योंकि जिनमें निर्बलता होती है, वे ही बाहरी विवेक और आडम्बर रखते हैं।** यदि कोई बाहरी आडम्बर से दूसरों को आकर्षित करना चाहे तो अवश्य ही उसमें कोई त्रुटि होनी चाहिए।

यहाँ पर हमें पूँछ कटे घोड़े पर सवारी करने वाले उस मनुष्य की बात याद आती है जो लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए घोड़े की पूँछ काटने की घातक नीति स्वीकार करता है।

किन्तु जो इस प्रकार दूसरों को मूर्ख बनाने की इच्छा रखता है, वह स्वयं ही मूर्ख बनता है। क्योंकि जिसमें यथार्थ ज्ञान और प्रतिभा होती है, वे तत्काल समझ लेते हैं, कि अमुक व्यक्ति किस उद्देश्य से रोक कर रहा है। **जो व्यक्ति की स्वाभाविक रूप से अपने सामर्थ्य का उपयोग करते हैं वही सच्चे महापुरुष हैं**। जिन्हें अपनी मूल शक्ति आत्मशक्ति का भान हो चुका है, वे तो दूसरों को दिखाने या जताने के योग्य काम बहुत कम और विवश होकर ही करते हैं और ऐसे ही पुरुष महान् कर्मयोगी होते हैं। अनन्त चैतन्य के साथ उनका सम्बन्ध होने से वे उच्च स्थिति में रह कर उच्च शक्तियों—द्वारा काम करते और सब चिन्ताओं से मुक्त-निश्चत रहते हैं। क्योंकि वे समझ चुके हैं कि उनके द्वारा वह अनन्त शक्ति ही कार्य कर रही और वे तो केवल उसके हाथ के उपकरण मात्र ही हैं।

सर्वोत्तम शक्ति प्राप्त करने का मुख्य रहस्य और साधन यही है कि, कार्य के बाह्य-साधनों के साथ अपनी अन्तर शक्ति का सम्बन्ध जोड़ा जाय। यदि आप चित्रकार हैं तो जितने अंश में आप अपनी अन्तरशक्ति का उपयोग करेंगे, उतने ही उत्तम चित्रों का आप निर्माण कर सकेंगे। अपनी आत्मा के द्वारा आपको जो प्रेरणा प्राप्त होती है, उससे अधिक उच्चकोटि का चित्र आप अन्य किसी भी प्रकार से नहीं बना सकते। आपके अन्तर में उच्च प्रेरणाएँ प्राप्त होने के लिए केवल इतना ही काम करना होगा कि अपने अंतःकरणरूपी द्वार को परमात्मा की प्रेरणा ग्रहण करने के लिए पूर्णतया स्वच्छ और मुक्त रक्खें।

यदि आप को प्रभावशाली वक्ता बनना है, तो जितने अंश में आप उच्च शक्तियों के साथ सम्बन्ध रखेंगे तथा उनके अनुसार जीवन बितावेंगे, उतने ही अंश में और वे ही शक्तियाँ आपके द्वारा बोलने लगेंगी और तब आप मनुष्यों के हृदय जीतने एवं उन्हें सन्मार्ग पर लगाने की शक्ति प्राप्त कर सकेंगे। यदि आप पुकारते और हाथ पैर पछाड़ते रह कर केवल स्थूल साधनों का ही उपयोग करते रहेंगे तो उसका परिणाम भी यही होगा। किन्तु यदि आप हृदय का द्वार खुला रखकर उसे परमात्मा की ओर प्रेरित करेंगे, तो उसी की वाणी आपके द्वारा उच्चारित होकर आप सच्चे और प्रभावशाली वक्ता बन सकेंगे। सारांश, आप जितने ही अधिक अन्तर्मुखी और तन्मय बनेंगे; उतनी ही आपके द्वारा ईश्वरीय शक्ति अधिकाधिक प्रकट होगी।

मुमुक्षु की स्थिति !

(अनु०—गोपी वल्लभ उपाध्याय)

यह सब दृश्य-जाल तो केवल माया के गुण जगत तथा शब्दादि विषयों के विस्तार रूप में होने के साथ ही मिथ्या है। इस बात को भली-भाँति जान लेने पर इसके प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है। विवेकयुक्त विचारों के द्वारा वैराग्य उत्पन्न होने पर मन के लिए आहार रूप जो विषय है उनका भी जड़मूल से निकन्दन तो जाता है। इस प्रकार जब समस्त विषय मिथ्या हैं; तभी विषयों की नीरसता समझ में आती है। और उसी दशा में मुमुक्षु समस्त विषयों के प्रति

उदासीन हो जाता है। किंतु विषयों के संस्कार मन में दीर्घकाल से दृढ़ हो जाने के कारण उनका त्याग सहज ही नहीं हो सकता। साथ ही उनकी असारता समझ लेने से उनका सहज ही उपभोग भी नहीं किया जा सकता। अतएव मनुष्य पूर्व-संस्कार एवं अभ्यास की प्रबलता के कारण वासना के वशीभूत होकर विषयों का सेवन करता है; और बाद में विवेक जाग्रत होने पर हो जाने वाली भूल के लिए फिर अपने को धिक्कारता है। संस्कार की प्रबलता के कारण यद्यपि उसका मन जो भी विषयों की ओर आकृष्ट होता है; किंतु विषयों को देखते ही उसमें के दोष मन के सम्मुख एकदम खड़े हो जाने से उसके अंतःकरण में दुःख भी होता है। और वह सदैव उदास बना रहता है। खाना, पीना, वस्त्र, आभूषण, सुन्दर स्त्रियाँ अथवा नाना प्रकार के अनेक विध ऐश्वर्य या वाहनादि के कोई भी साधन उसे सुखदायी प्रतीत नहीं होते। उसे यही अनुभव होता है मानों अपनी कोई प्रिय से प्रिय वस्तु एकाएक गुम हो गई हो। इस प्रकार वह निरन्तर खेद खिन्न बना रहता है। क्योंकि पूर्ववासनाओं की शक्ति प्रबल होने के कारण उसका त्याग भी नहीं हो सकता और दूसरी ओर उसकी असारता-रूपी दोष दृष्टिपथ में उपस्थित हो जाने से उसका उपभोग भी वह नहीं कर सकता इस प्रकार उसकी स्थिति अर्धदग्ध जैसी हो जाती है। फिर भी वह योग मार्ग के अभ्यास के योग्य बनकर पुरुषार्थ के द्वारा **स्वात्मदेव** को प्रसन्न कर सकता है।

मुमुक्षु की तीन अवस्थाएँ हैं

(१) मैं और वह (अर्थात् प्रभु) = इसमें प्रभु दूर प्रतीत होते हैं।

(२) मैं और तू (अर्थात् प्रभु) = इसमें प्रभु निकट प्रतीत होते हैं।

(३) मैं और वह ही मैं (अंकता) = इसमें दोनों एक बन जाते हैं।

इनमें अंतिम या तीसरी स्थिति **आत्मस्थिति** में पहुँच जाती है। और इस स्थिति में पहुँचे बिना मनुष्य के लिए-गति ही नहीं है। **अभेद में पहुँचने पर ही शांति प्राप्त होगी —आत्मा को सर्वत्र देखने पर ही शांति लाभ होगा।**

स्वरूप स्थिति कभी किसी की जाती नहीं, हमेशा ही बनी रहती है। केवल मन की स्थिति ही डावाँ-डोल होती रहती है। आप तो ज्यों के त्यों थे और हैं तथा रहेंगे।

आप तो ऐसा ही मानिये कि मनकी दशा दिन-रात एक-ही सी रहनी चाहिए। किंतु जब तक शरीर है, तब तक उतने ही परिमाण में मन भी रहेगा और वह अपने स्वाभवानुसार ही बरतेगा। यदि मन का चक्र रुक जाय; तो एक प्रकार की जड़वत् अवस्था प्राप्त हो जाती है। किंतु अपने एक अनुभव के कारण उसे हम भूल जाते हैं। और मन में 'मैं' या अहंता धारण कर विचार करते हैं कि चाहे जैसी क्रिया करने पर भी डावाँ-डोल स्थिति तो बनी ही रहेगी। अतएव सबसे पहले तो उसमें से 'मैं' या अहंता का भाव हटाना होगा। उसके बाद विचार करने पर सब कुछ सरल हो जायगा और यही वास्तविक स्थिति है।

इसी प्रकार दूसरी भूल यह होती है कि—आत्मा का अनुभव होने पर ही समस्त वासनाएँ शांत हो सकती हैं; किंतु यह कल्पना ही मिथ्या है। फिर भी चाहे जैसी स्थिति क्यों न प्राप्त हो, भले ही वह अच्छी हो या बुरी, वह यदि हमें विचलित न कर सके तो समझ लेना चाहिए कि यही सबसे बड़ी सिद्धि है। हमें चाहिए शांति; यदि वह प्राप्त हो जाय तो समझ लीजिये कि हम अपने ध्येय पर पहुँच गये !

उपाधि से तो तुम स्वाभाविक रूप से युक्त ही हो। उपाधियों को छोड़ना नहीं है, वरन् उपाधियाँ होते हुए भी वे मुझे स्पर्श नहीं कर सकतीं और न भविष्य में ही कर सकेंगी। यही

बात याद रखने की है। साथ ही काम हो रहा है वह 'मैं और मेरे' का ध्यान रखते हुए ही हो रहा है इसकी भी चिंता नहीं। किंतु प्रत्येक काम हो जाने पर विचार करो कि **'वह काम किसने किया ?'** और वह काम आरंभ करने से पहले विचार करो कि **'वह काम करने वाला कौन है ?'** यदि इतना भी विचार न करोगे तो क्या होगा ? वैसे तो ये सब काम निष्काम भाव से होते ही रहते हैं। किंतु उनमें हम 'अहम्' भाव का समावेश करके बरतते हैं, वही दुःख का कारण बन जाता है। इस अहम् को तो हमें खुद ही दूर करना है। अन्य किसी का भी इसमें कोई वश नहीं चल सकता।

दूसरी बात यह है कि हमारे चिंता करने पर भी कोई काम हमारी इच्छानुसार होगा या नहीं। कभी हो भी सकता है। किंतु हर समय और सब कुछ हमारी इच्छानुसार ही होने की पुकार **'अहम्'** द्वारा होती ही है। फिर भी यदि तनिक गहराई से विचार करें तो ब्रह्मांड के सभी कार्य हमारी इच्छानुसार ही होते हुए प्रतीत होंगे। क्योंकि स्वरूप की खोज ही स्वरूप का नाश है। अर्थात् आपने सबके संरक्षक होते हुए अपने को अल्पवयस्क या नाबालिग मान लिया है। इसी भावना को त्याग देना है। क्योंकि आप कुछ भी नहीं हैं।

इस प्रकार अध्यात्म की जो-जो बातें 'चर्चा' हुई है, उन्हें अपने जीवन व्यवहार में परिणत करते रहें। आपको यथार्थ जीवन व्यतीत करना चाहिए। हृदय में से रागद्वेष निकल जाने चाहिए किसी को भी देखकर हृदय में से आशीर्वाद ही निकलना चाहिए। अपने सगे-सम्बन्धी या स्वजनों अथवा देश के बान्धवों ही नहीं यावत् प्राणिमात्र को सुख में विचारने देखने का ही भाव मन में रहना चाहिए। हमारा हृदय प्रभु के समान विशाल होना चाहिए। जिससे कि प्रभु के साथ हमारी 'एकता' अनुभव की जा सके। **धर्म हृदय का विषय है।** अतः यदि बुद्धि कुतर्क की ओर मुड़ जाय तो सब कुछ उलटा-सीधा हो सकता है। ऐसी दशा में हृदय सत्यासत्य का निर्णय करने, किसी को भी सुखी देखने या विषय के प्रति अरुचि प्रकट करने न्याय निर्णय करने या शांति अथवा आनन्द का अनुभव करने की ओर प्रवृत्त रहता है। मन और बुद्धि कदाचित् विषयों की ओर प्रेरित हों; किंतु हृदय तो उन्हें ऐसा करने से रोकता ही है। अतएव अवकाश का समय निकालकर जप, भक्ति या योग इसकी ओर मन को लगाते रहना चाहिए।

जो कुछ समझाया गया है, उसी में मस्त होकर रहना है, उसी में आनन्द है। हमें अपने अहंकार का ही उच्छेद करना है। अतः या तो **'परमात्मा'** में हमें इतना ओत-प्रोत हो जाना चाहिए, फिर हममें **'अहम्'** की गंध तक शेष न रह जाय। अथवा हमें अपने में सबको इस प्रकार मिला लेना चाहिए कि जगत् का कहीं दर्शन ही न हो। और यदि कभी दिखाई भी दे तो वह **अपने-स्वतः के स्वरूप** में ही दिखाई दे। यह सब साधना योग की ही है। और हम जैसे साधारण बुद्धि वालों के लिए तो सच्ची और सरल भी है। इसमें किसी पुस्तक या शास्त्र की आवश्यकता नहीं होती। केवल एक श्रद्धा की ही आवश्यकता रहती है। अधिक पढ़ने से कई बार हृदय में नयी-नयी शंकाएँ उत्पन्न हो जाती हैं और यदि उनका यथार्थ समाधान न किया जाय तो मनमें बड़ी उलझन पैदा हो जाती है। अतएव जहाँ तक बन सके, अभ्यास बढ़ाना चाहिए, हमारा बाल जीवन तो एकदम सरल और आडम्बर-रहित होना चाहिए। हमारा हृदय एकदम पवित्र हो जाना चाहिए। इस मार्ग के अनुगामी मुमुक्षु को जगत् के अभिप्राय की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए। अनीति का मार्ग त्याग देना चाहिए।

सारांश, हमारी जितनी भी क्रियाएँ हों, वे सभी भावपूर्वक होनी चाहिए। इससे विशेष

सरलता हो सकेगी और घबराहट बिल्कुल नहीं होगी।

कुछ भी पढ़िये; किंतु इस एक बात के अनुभव से कोई इनकार नहीं कर सकता कि जिन-जिन पदार्थों को हम जानते हैं—अनुभव करते हैं, उनसे भिन्न रूप में रहकर ही जानने वाले थे और रहेंगे। और हमारा वह रूप शरीर एवं मन रूपी भावना से परे है। समाधि या जागृतावस्था आदि मन के ही भाव हैं। अतएव भले ही समाधि लगावें या सचेत रहें; किंतु हमारी समाधि अवस्था तो कायम ही रहती है और रहेगी। **'मैं' असमाहित होता ही कब हूँ?** इस प्रकार अभ्यास के द्वारा मुमुक्षु को उपर्युक्त रूप की अवस्था प्राप्त हो सकती है।

चेचक

[डा० *रामनारायण* दुबे]

चेचक को विष्फोटक भी कहते हैं। विष्फोटक से तात्पर्य है "सारे शरीर से विष फोड़कर निकलना।"

शरीर में कहीं एक फोड़ा हो जाता है तो कितना कष्ट होता है और जब सारे शरीर में अचानक अनगिनती छोटे-छोटे दाने के रूप में फोड़कर निकलें तो ऐसी दशा में कितना कष्ट होगा। कोई भुक्त भोगी ही बतला सकता है।

भुक्त भोगी भी क्या बतला सकेगा, जब कि वह स्वयं मूर्च्छित अवस्था में बेसुध पड़ा रहता है।

चेचक के दो प्रकार—१—छोटी माता (मज़िल्स) २—बड़ी माता (स्माल पाक्स)

चेचक का कारण—आज से २५-३० वर्ष पूर्व में इस रोग का प्रकोप इने-गिने लोगों में होता था जो कभी-कदाचित सुनने में आता था कि फलां व्यक्ति को "माता का आगमन" हो गया है।

अर्थात् माता (देवी) का प्रकोप हो गया है। और बड़ी स्वच्छता के साथ माता भवानी की वन्दना-अर्चना की जाती थी। किसी प्रकार की औषधि-चिकित्सा न होती थी, जिसमें लोग बच भी जाते थे। पर मृत्यु अधिक हो जाती थी।

परन्तु वर्तमान समय में आहार में इतना अधिक बनावटीपन तथा मिश्रण हो गया है कि—वास्तविक एवं स्वाभाविक शुद्ध आहार का मिलना दुर्लभ हो गया है।

ऊपर से आइसक्रीम, बरफ़, बरफ़ का शरबत, लैमजूस, चाकलेट, बिस्कुट, डबल रोटी, चाय, रेफ्रेजरेटर में रक्खे पदार्थ, वनस्पति घी, डालडा, सिनेमा आदि से मनुष्य के स्वाभाविकमय तथा संयममय जीवन पर कुठाराघात हो रहा है जिससे उनके शरीर में विकारों का भंडार भर जाता है और इसी कारण चेचक का प्रकोप सामूहिक रूप में उग्र रूप धारण कर रहा है।

प्रायः अपथ्याहार से शरीर में विकारों का भंडार भर जाता है। विशेषतः उदर में मलावरोध होकर, सड़ान एवं विषाक्त का प्रभाव सारे शरीर पर पड़ता है जो कुछ कालान्तर के बाद स्वाभावतः विष्फोट हो जाता है।

चेचक से बचने के उपाय—बच्चा जब जन्म लेता है, उस समय उसे "टेसू के फूल"

के उबाले हुए कुनकुने जल में स्नान कराने से जीवन भर चेचक नहीं निकलेगी।

दूसरे—प्रति वर्ष केवल गाजर या संतरे पर, कम से कम ४० दिन रहने से चेचक नहीं निकलेगी और न अन्य कोई रोग होगा।

तीसरा—जब चेचक का प्रकोप पास-पड़ोस में फैल रहा हो। उस समय समस्त परिवार गाजर या संतरे के रस पर कम से कम एक सप्ताह तक रह जायँ या नीबू के रस को जल में मिला कर, दिन भर में इसके जल तथा १०-१२ नीबू का सेवन करें।

एनिमा दोनों समय लेते रहें।

इस प्रकार उपर्युक्त चिकित्सा से शरीर का सारा विष बाह्यान्तर हो जायगा और चेचक के प्रकोप से पूर्णतया सुरक्षित हो जायँगे।

चौथा—चेचक के प्रकोप का आरम्भ हो गया हो तो—निम्नाङ्कित प्रयोग करिये—प्रातःकाल ८ बजे—धूप में कम्बल या रजाई ओढ़कर, खूब पसीना आने तक लेटे रहें और पसीना आ जाने के बाद कम्बल ओढ़े ही, चारपाई समेत, घर के भीतर बन्द कोठरी में, दूसरी चारपाई पर जो पहले से ही तैयार रहे लेटा दें।

दूसरी चारपाई पर कन्धे से पैर के पंजों तक पहले दोहरा कम्बल बिछाइये, फिर कम्बल के ऊपर, कम्बल के नाप की दो चद्दरें, ठंडे पानी में भिगो-निचोड़कर, बिछा दें। और रोगी को ठीक मध्य में तथा गीली चादर के नाप से लिटा दें। और तुरन्त पहली दोहरी चद्दर को हाथों की काँख से कमर तक, रोगी के शरीर से खूब स्पर्श करके लपेट दें। पश्चात् दूसरी चद्दर कन्धे से पैर के पंजों तक लपेट दें। इसमें दोनों हाथों की हथेलियों को दोनों ओर कमर से चिपका दें। और अब प्रथम दोहरा कम्बल लपेट दें। पश्चात् कन्धे से कमर वाला कम्बल लपेट दें। ऊपर से रजाई या कम्बल ओढ़ा दें।

इस प्रकार २० मिनट से ४० मिनट तक, शरीर के तापक्रम (टेम्परेचर) के अनुसार लपेटे रहें। और जब गीली चादर गरम हो जाय तो कम्बल तथा चद्दरें हटाकर, सारे शरीर की शीघ्रता के साथ अँगोछने (स्पांजिङ्ग) दीजिये और पुनः रजाई से रोगी का शरीर ढक दीजिये।

यह सदा ध्यान रहे कि—रोगी को पट्टी में लपेटने, निकालने तथा अँगोछने के समय कमरे के दरवाजे, खिड़कियाँ सब बन्द रहें। और पट्टी लग जाने तथा अँगोछने के बाद कम्बल ओढ़ने की दशा में कमरे के सब दरवाजे तथा खिड़कियाँ खोल दी जायँ।

इस प्रकार प्रतिदिन प्रातःकाल ८ बजे धूप-स्नान या टब या नाँद या बड़ी कढ़ाई में कुनकुने से थोड़े अधिक गरम जल में पूरे शरीर का गरम-जल-स्नान बन्द कमरे में, सारे शरीर से पसीना आ जाने तक स्नान करावें।

नोट :—गरम-जल-स्नान के समय ठंडा जल तथा नीबू का रस मिलाकर तथा ठंडी पट्टी के समय कुनकुना गरम जल में नीबू का रस या संतरे का रस या गाजर का रस मिला कर चम्मच से थोड़ा-थोड़ा पिलाइये।

पाँचवाँ—यदि चेचक का प्रकोप फूट निकला हो तो केवल नीबू के रस को गहरी नीली बोतल में मिलाकर आधी-आधी छः के खुराक से दो-दो घंटे पर दिन भर में ६ खुराक पिलाइये। और प्रातःकाल ८ बजे तथा सायंकाल ४ बजे ठंडी कपड़ पट्टी। तौलिया या अँगोछा को ठंडे पानी में भिगो-निचोड़कर तथा पेड़ू के नाम का तह करके, पेड़ू पर रखिये और ऊपर से कोई गरम कपड़ा ढक दीजिये।

इस प्रकार २० मिनट तक राखिये और ठंडी पट्टी हटाकर, पुनः गरम कपड़ा १० मिनट तक रखिये।

उपर्युक्त चिकित्सा से शरीर पर चेचक के दाने नहीं निकलेंगे। चेचक का सारा विष मल-मूत्रोत्सर्ग के द्वारा सब बाह्यान्तर हो जायगा। पर यह ज्वर के आते ही चिकित्सा चालू कर देने से प्राप्त होगा। चेचक निकल आने पर नहीं।

इस प्रकार पाँचों प्रयोगों के द्वारा चेचक के होने से पूर्णतया बच सकते हैं। रोग-प्रकोप के भयङ्कर कष्ट से बच सकते हैं और बड़े आनन्द और इत्मीनान के साथ चेचक के प्रकोप को भगा सकते हैं तथा चेचक के दाने प्रकट नहीं हो सकते।

चेचक में सतर्कता—चेचक के ज्वर में बड़ा धोखा होता है। पहला आक्रमण दो-तीन दिन का होकर, ज्वर गायब हो जाता है। पर दो ही दिन बाद बड़े भयङ्कर रूप में प्रकट होता है जिसमें शरीर पर चेचक के दाने दिखलाई दे जाते हैं।

अतएव चेचक-प्रकोप के दिनों में ज्वर के प्रकोप को चेचक का ही आक्रमण समझकर किसी प्रकार के आहार तथा दूध-सेवन से बचिये।

क्योंकि चेचक के ज्वर में आहार तथा दुग्ध-सेवन अग्नि में घृत की आहुति समझिये जो भयङ्करता के साथ मृत्यु का कारण हो जाता है।

साधन क्रम

[श्री मैहर बाबा]

सच्ची सेवा ईश्वर प्राप्ति के बाद ही सम्भव है।

भिन्न-भिन्न ढंग से निःस्वार्थता-पूर्वक सेवा की जा सकती है किन्तु इन सभी प्रकार की सेवाओं का एक समान मूल्य नहीं है। मनुष्य की जैसी बुद्धि रहेगी वैसी ही कल्याण विषयक उसकी भावना रहेगी और लोगों की सेवा करके वह वैसा ही कल्याण करना चाहेगा। **अतः परम उत्कृष्ट तथा परम मूल्यवान् सेवा करने में केवल वही मनुष्य सफल होता है जिसे इस बात का स्पष्टतम ज्ञान है कि लोगों का किस बात में परम कल्याण है।** ऐसी सर्वोपरि प्रकार की सेवा करने में वे लोग अयोग्य ठहते हैं जिन्हें अन्तिम सत्य का ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है। ईश्वर-ज्ञान-शून्य मनुष्य की सेवा वही मूल्य नहीं हो सकता जो मूल्य ईश्वर-ज्ञान–संपन्न मनुष्य का सेवा का है। एक अर्थ में, सच्ची सेवा ईश्वर-ज्ञान के बाद ही शुरू होती है।

गुरु की सेवा से ईश्वर ज्ञान सुलभ होता है।

जिज्ञासुओं एवं महानुभावों में संतत विद्यमान रहने वाली सेवा-वृत्ति यदि गुरु के कार्य से संयुक्त कर दी जाय तो वह सुव्यवस्थित रूप से विधायक अध्यात्मिक उद्देश्य की सिद्धि में लगायी जा सकती है। गुरु अपनी अनन्त ज्ञान की प्रेरणा से समस्त संसार की सेवा करते तथा उसकी आज्ञा का पालन करते हैं वे उसके सार्वलौकिक कार्य में अपने हाथ बँटाते हैं। उनकी सेवा को गुरु के ज्ञान तथा दूरदर्शिता की सुविधा रहती है। स्वेच्छापूर्वक गुरु के कार्य में भाग लेने से न केवल सेवा का मूल्य बढ़ता है किन्तु आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए सर्वोत्तम अवसर भी हाथ लगता है। **महत्व में गुरु के आदेश के अनुसार की जाने वाली सेवा स्वयं गुरु की द्वारा की जाने वाली सेवा से ही दूसरे नंबर का है।**

सेवा फलाशक्ति से मुक्त होनी चाहिए।

बहुतेरे मनुष्यों की सेवा-संबंधी भावना संसार के कर्म-क्षेत्र में किसी निश्चित इष्ट फल की प्राप्ति की भावना से अविभाज्य रूप से गुथी हुई रहती है। उनकी दृष्टि में सेवा का अर्थ या अशिक्षा का दूर करना होता है या मानवीय यातनाओं का निवारण करना होता है। या तो व्यक्ति अथवा समाज की समृद्धि पर कुठाराघात करने वाली कठिनाइयाँ या अड़चनों को हटाना होता है। जिज्ञासुओं राजनीतिज्ञों, समाज-सुधारकों तथा अन्य सज्जनों के द्वारा इसी प्रकार की सेवा की जाती है। यद्यपि ऐसी सेवा का भी कुछ कम आध्यात्मिक महत्व नहीं है तथापि इस प्रकार की सेवा का कहीं भी जा कर अंत नहीं होता। इन दिशाओं में किसी व्यक्ति के लिए कुछ उद्देश्य हो सकते हैं, किन्तु उसके अनेक उद्देश्य हर हालत में अपूर्ण ही रहेंगे। अतः जब तक सेवा की भावना फलप्राप्ति की भावना से जकड़ी हुई रहेगी तब तक मनुष्य का अनिवार्य रूप से एक प्रकार के अभाव के भाव से सदैव ही भाराक्रांत रहेगा। **फलों या परिणामों की कभी समाप्त न होने वाली अवली के पीछे पड़ने से अनन्तता की प्राप्ति असंभव है।** किसी नियत या निश्चित फल की प्राप्ति जिनका लक्ष्य हुआ करता है उनके मन पर एक स्थायी भार लदा रहता है।

ईश्वर ज्ञान के बाद की सेवा तथा ईवर ज्ञान से पूर्व की सेवा में आकाश पाताल का अन्तर है।

इसके विपरीत सत्य के साक्षात्कार के पश्चात की जाने वाली सेवा आत्मा के सच्चे स्वरूप के ज्ञान की सहज अभिव्यक्ति होती है और यद्यपि ऐसी सेवा से भी संसार के कर्म-क्षेत्र में महत्वपूर्ण फलों की प्राप्ति होती है तथापि फल लालसा के भार से वह जटिल एवं बोझीली नहीं हुआ करती। जिस प्रकार सूर्य इस लिए चमकता है कि चमकना उसका स्वभाव है, इसलिए नहीं कि चमक कर वह कोई फल प्राप्त करना चाहता है, उसी प्रकार ईश्वर ज्ञानी मनुष्य सेवा तथा आत्म-बलिदान का जीवन इसलिए यापन करता है कि ऐसा करना उसके दिव्य जीवन का सारभूत स्वभाव है। न कि इसलिए कि उसे किसी फल की प्राप्ति की लालसा है। उसका जीवन किसी उपलब्धि की आशा में किसी पदार्थ की ओर बहिर्गमन या किसी वस्तु का अनुसरण के समान नहीं होता। **फल प्राप्ति के द्वारा सम्पन्न या समृद्धि होने की उसकी आकांक्षा नहीं रहती। वह तो अनन्त की प्राप्ति की परिपूर्णता में पहले से ही प्रतिष्ठित हो चुका रहता है।** उसकी सत्ता का अजस्र प्रवाह अन्य रूपधारी प्राणियों के लिए एक उपकार है और इस प्रवाह से सिंचित होने वाले मनुष्यों का अवश्यमेव भौतिक तथा आध्यात्मिक कल्याण होता है। चूँकि उसका आनन्द उसकी अंतर्भूत दिव्यता के ज्ञान की नींव पर अधिष्ठित होता है। अतः वह अन्य रूपधारी प्राणियों की पीड़ा एवं अपूर्णता से ह्रास को प्राप्त नहीं होता और उसका ज्ञान किसी अप्राप्त वस्तु की अपूर्णता या अभाव के लेश-मात्र क्लेश से पीड़ित नहीं होता। ईश्वर ज्ञान के उपरांत की जाने वाली सेवा में आकाश पाताल का अन्तर है। गुरु का जीवन सेवामय जीवन है, उसका जीवन उसके खुद के आत्मा के अन्य रूपों के लिए शाश्वत आत्म बलिदान है। इस प्रकार की विशिष्ट सेवा जिसे केवल ईश्वर ज्ञानी पुरुष ही करने में समर्थ होते हैं उस सेवा से एकदम भिन्न है। जो सेवा उन मनुष्यों के द्वारा की जाती है जिन्हें सत्य-साक्षात्कार नहीं हुआ रहता।

अभी आपको बहुत जीना है

जीवन के दिन आपको गिनकर नहीं मिले हैं और मरने की तिथि-घड़ी भी ललाट पर लिखी नहीं है। जन्मे हुए की मृत्यु यद्यपि अवश्य है, फिर भी मौत टाली जा सकती है, उम्र बढ़ सकती है। अपनी अनजान भूलों से रोग हो और अनेक इलाज होकर भी रोग बढ़कर पुराना और असाध्य हो जाय, और निराश होकर श्मशान जाने के दिन का इन्तजार कर रहे हों तो प्रकृति की शरण में आइए, अपनी गलतियों का सहज प्रायश्चित कर, किसी प्रकार की दवा, इन्जेक्शन या चीरफाड़ के बिना, केवल सूर्य, अग्नि, मिट्टी और जल के विभिन्न प्रयोगों से आत्मशुद्धि कर उचित आहार विहार द्वारा नया जीवन प्राप्त करें।

इस प्राकृतिक उपचार पद्धति से—

तन और मन के मल विकार निकलते हैं,

दवाओं का पुराना जमा हुआ विष भी निकलता है,

मोटा व्यक्ति हल्का, कमजोर बलवान बनता है,

तन-मन शुद्धि से पुराना शरीर नया होता है,

कायाकल्प होता है, उम्र बढ़ जाती है,

जीते जी पुनर्जन्म होता है,

रोगी स्वयं अपना डॉक्टर बनता है,

निराश मत होइए, जीवन जीने योग्य है, बार बार यह अनमोल जीवन नहीं मिलता।

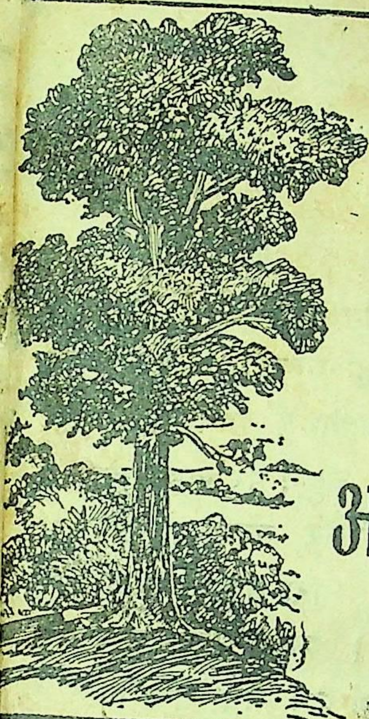
प्राकृतिक चिकित्सालय,

गंगाघाट, उज्जैन, मध्य प्रदेश

व्यवस्थापक व प्रकाशक—डॉ० बालकृष्ण नागर, कल्पवृक्ष कार्यालय, उज्जैन, (मध्य प्रदेश)

मुद्रक—भक्तसज्जन, बेलविडियर प्रिंटिंग वर्क्स, इलाहाबाद-२

३७ न० पै० उत्तर प्रदेश एवम् मध्य प्रदेश शिक्षाविभाग द्वारा स्वीकृत वार्षिक मूल्य २) ५० न०



कल्पवृक्ष

अध्यात्म विद्या का मासिक पत्र

उज्जैन, मध्यप्रदेश

सितम्बर १९६२ ई०

वर्ष ४१
संख्या १

KALPA-VRIKSHA
A MAGAZINE OF DIVINE KNOWLEDGE

सम्वत्
२०१९ वि०

स्वर्ण-सूत्र

आत्म श्रद्धा

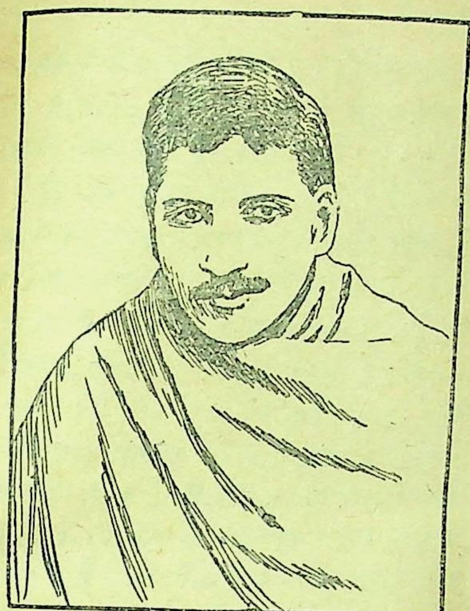
संत नागर जी

मैं संघर्षमय जीवन की बाधाओं से कभी भयभीत नहीं होता। मैं दुःख, क्लेश, विपत्ति और जीवन की उलझनों से कभी नहीं घबराता। मुझे आत्म श्रद्धा की असाधारण महिमा का अनुभव हैं। मैं दृढ़ाग्रहीत हूँ और आत्म श्रद्धा पर स्थिर हूँ। मैं दृढ़-मजबूत होकर आत्म श्रद्धा की चट्टान पर खड़ा हुआ हूँ कि संसार की कोई भी विपत्ति मुझे विचलित नहीं कर सकती। संसार में कोई पदार्थ ऐसा नहीं जो मेरा सामना कर सके। सारा संसार उलट जाय फिर भी आत्म श्रद्धा का परित्याग नहीं कर सकता। आत्म श्रद्धा के बल से मैं असम्भव से असम्भव कार्य करने को सर्वं समर्थ हूँ। मेरे अन्त:करण में निरन्तर यथार्थ श्रद्धा प्रकट हो रही है और यह दैवी बल मुझे परतंत्रता की पाश से मुक्त कर रहा है।

मैं अपने अंत:करण में आत्म श्रद्धा को अखंड जागृत रखता हूँ और मेरा अन्त:करण निरन्तर प्रशांत और तृप्त रखता है। मेरे लिये कुछ भी असाध्य नहीं, कुछ भी दुर्लभ नहीं और कुछ भी दुस्तर नहीं।

मुझे अनुभव है कि सामर्थ्य का गुप्त भंडार यह श्रद्धा है, केवल आत्म श्रद्धा ही है। मैं किसी बाहरी सहायता पर निर्भर नहीं रहता। मेरा परम अवलम्ब आत्म श्रद्धा ही है और सब बंधन और दुःख मात्र से मुक्त करने वाली आत्म श्रद्धा ही है। अनन्त और अपार बल प्राप्ति का राजमार्ग केवल आत्म श्रद्धा है।

संस्थापक—स्वर्गीय डॉ० दुर्गाशङ्कर नागर





कल्पवृक्ष

अध्यात्म-विद्या का मासिक पत्र

उज्जैन, मध्यप्रदेश

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ गीता ॥

वर्ष ४१ } उज्जैन, सितम्बर सन् १९६२ ई०, सं० २०१९ वि० { संख्या १

आत्म-श्रद्धा

सन्त नागरजी

तुम्हारा सबसे बड़ा भारी शत्रु संशय है। जो मनुष्य अपनी शक्तियों में संशय रखता है वह अपने आपको लंगड़ा-लूला बना लेता है। जो अपने संशय को भूल जाता है वह अधिक बलवान हो जाता है। संशय यह एक महान् घातक शक्ति है और मनुष्य को निरुत्साही, निकम्मा एवम् बलहीन बना देती है। श्रद्धा और विश्वास ही उन्नति के मूल साधन हैं। अपनी योग्यता में कभी संशय मत करो। यदि तुम्हारे हृदय में दृढ़ और सच्ची आत्मश्रद्धा है तो तुम जो चाहोगे हो सकोगे। महात्मा जीसस का कथन है कि यदि तुममें राई के दाने भर भी श्रद्धा है तो तुममें इतना बल होगा कि तुम्हारी आज्ञा पाते ही पहाड़ भी चल कर समुद्र में जा पड़ेंगे। आवश्यकता है पूर्ण दृढ़ श्रद्धा की। दृढ़ श्रद्धा द्वारा मनुष्यों में असाधारण आत्मिक बल पैदा होता है जिसके द्वारा वह अनेक प्रकार के जय-विजय प्राप्त कर सकता है। जय-विजय किसका? लोकों और नगरों का नहीं, किन्तु अपने आपे का। इस अपने आपे पर विजय पाने से, अपने पर अधिकार जमा लेने से, मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को पहिचान जाता है और उसको अनन्त शक्ति की प्राप्ति हो जाती है।

श्रद्धा में महान् बल है, श्रद्धा पर्वतों को भी हिला सकती है। श्रद्धा की शक्ति से संसार

के झमेलों में शान्त खड़े रह सकते हो, इन्द्रियों की चंचल क्रियाओं में शांति कायम रख सकते हो, वासना और विकल्पों के हजारों आवेगों को चुपचाप सहन कर चट्टान के समान दृढ़ स्थिर रह सकते हो और अपने आप पर विजय प्राप्त कर उस अवस्था में प्रवेश कर सकते हो जहाँ पूर्ण श्रद्धा, पूर्ण ज्ञान और पूर्ण मुक्ति का साम्राज्य है।

भूलकर भी अपनी शक्तियों में संशय न करो। अपनी अधम वृत्तियों से सावधान रहो। अधम वासनायें ही तुम्हें फँसाये रखती हैं, बंधन में बाँध रखती हैं एवं पथ से भ्रष्ट करती हैं। आत्मविश्वास रखो कि तुम में वासनाओं को दमन करने की पूर्ण शक्ति है। मुक्ति और आनन्द का मार्ग तुम्हारे अन्दर स्थित है। जिसने अपने ऊपर विजय प्राप्त कर ली है वही मनुष्य वास्तव में मुक्त है, वह सदा प्रसन्न ही रहता है। दुःख और विपत्तियाँ, कदापि काल उसकी शांति में बाधा नहीं डाल सकते। अपने आपको ऐसा बनाओ कि भय, शंका, संशय, निर्बलता, दरिद्रता, पाप एवं द्वेष के पतित विचार तुम्हारे हृदय में स्थान न प्राप्त कर सकें। पवित्रता, निर्भयता एवं उदारता के उच्च विचारों से हृदय को भर दो। तुम्हारे घर में कूड़ा-कर्कट होगा तभी रोग के कीटाणु उत्पन्न होंगे, स्वच्छ और सुथरे मकान में रोग के जंतु किसी हालत में पैदा हो नहीं सकते। मन में गन्दे और दूषित विचारों के रहने से ही मलीन भावों की उत्पत्ति होती है। हृदय-प्रदेश में से संशय और अशुभ विचारों को प्रबल धक्का देकर बाहर निकाल दो और उनकी सत्ता से मुक्त होओ। तुम अपने अविश्वास के कारण ही इस स्थिति में सड़ रहे हो। तुम अपने को मिट्टी का पुतला समझ रहे हो। इन्हीं मिथ्या विश्वासों से तुमने अपनी दुर्गति कर ली है। निर्भयता और आत्मविश्वास के कवच को धारण करो और कोई भी हीन विचार तुम्हारे मनोरथ में प्रवेश न कर सकेगा। श्रद्धा, पक्की धारणा अथवा दृढ़ निष्ठा मन की विद्यात्मक शक्ति है और संशय, संदेह निषेधात्मक वृत्ति है। आत्म-श्रद्धा ही इच्छाशक्ति है और इससे आयु, आरोग्य एवं ऐश्वर्य की वृद्धि होती है और संशय से असंख्य भयंकर यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं और सारा जीवन गुलामी में कटता है। श्रद्धा से ज्ञान की प्राप्ति होती है, ज्ञान से मनुष्य अपने पर शासन कर सकता है, अपने भाग्य, स्थिति और जीवन का स्वामी बन जाता है। चिन्ता, भय, शंका, शोक और द्वेष से सर्वथा मुक्त होकर जीवनमुक्त हो जाता है। यदि तुम सुख, शांति और पूर्ण आनन्द भोगना चाहते हो तो अपने में आत्मश्रद्धा उत्पन्न करो। शांत होकर अपने अंतःप्रदेश में विराजमान परमात्मा को जानो, उनका आश्रय लो और सदा अपनी अन्तरात्मा का आदेश मानो और तुम्हें वह चिरस्थायी आनन्द प्राप्त होगा जिसका कि तुम इस सांसारिक जीवन में अनुमान नहीं लगा सकते।

"श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शांति मचिरेणाधि गच्छति॥

जिसमें श्रद्धा होती है, जिसने इन्द्रियों पर शासन किया है, जो उद्योग करता है उसे ज्ञान की प्राप्ति होती है और ज्ञान को पाकर उसे जल्दी ही परम शांति प्राप्त होती है।

साधक, सावधान !

आचार्य श्री नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ

स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे कि किसी व्यक्ति को केवल डॉक्टरी की पुस्तकें देकर, पढ़ा कर उसको सर्जन नहीं बना सकते। शस्त्र-क्रिया तो किसी शस्त्र-क्रिया पटु सर्जन से सीखनी पड़ती है तब काम बनता है—

इसी तरह केवल पुस्तकों का संग्रह करने वाला, केवल पुस्तक-पाठी बनने से साधक ध्यान में निपुण नहीं हो सकता।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः,
न मेधया, न बहुश्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः,
तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्॥

यह आत्मा खाली प्रवचनों के सुनने या सुनाने से नहीं मिलता। अत्यन्त तीव्र बुद्धि वाले को भी नहीं मिलता, बहुश्रुत होने से भी नहीं मिलता, जिस पर परमात्मा की कृपा होती है वह स्वयं उसको ऊपर उठा लेता है। इसलिए साधक यह समझ कर चले कि उसी प्रभु की कृपा से ही मैं तरूँगा, मैं उठूँगा। अपनी साधना का कभी घमण्ड न करे साधक। साधन करते हुए अपयश भी मिले, सिद्धि न भी मिले तो भी घबराना नहीं चाहिए। अपना प्रयत्न चलता ही रहे, उसमें किसी प्रकार की कमी न आने पाये। बछड़ा बार बार गिरता है पर वह अपने उठ खड़े होने के प्रयत्न में लगा ही रहता है। सच्चे साधक का धैर्य कभी विगलित नहीं होगा। वह तो अनवरत साधना-पथ पर चलता ही रहेगा।

साधक को चाहिए कि अपने चरित्र को साधता रहे। साधक यदि यह चाहे कि मेरा प्राइवेट जीवन कैसा ही रहे पर मेरी समाधि लग जाया करे। यह बात तीन काल में भी नहीं होने वाली है। जिसका चित्त और चरित्र शुद्ध होगा वही ध्यान जगा सकेगा। अन्यथा नहीं। इस बात को साधक अच्छी तरह समझ लेवे।

अपना चित्त और चरित्र अशुद्ध रख कर समाधि का खयाल करना ऐसा ही है जैसा कोई पुरुष नाके का गला पकड़ कर नदी पार होने का स्वप्न देखे।

ध्यान का मुख्य साधन है मन, यह तो मानना ही पड़ेगा। आश्चर्य यह है कि रहता तो है यह शरीर के भीतर पर दौड़ता रहता है सदा बाहर। किसी न किसी विषय की ओर आकृष्ट होकर बाहर जाता ही रहता है। इस मन को वश में करके जब साधक उसको बाह्य वस्तुओं की ओर जाने से रोकेगा तभी यह साधक ध्यान में सफल हो सकेगा।

ध्यान की वस्तु सगुण साकार भी हो सकती है, निर्गुण निराकार भी हो सकती है। सगुण साकार का ध्यान इसलिए आवश्यक है कि उस पर ध्यान टिका कर फिर निर्गुण-निराकार की ओर चलें। चाहे वह सगुण ध्यान हो, चाहे निर्गुण ध्यान हो, हमारा अन्तिम साध्य तो यही रहना चाहिए कि मन को आत्मस्वरूप में लीन करें।

हमको जिस आत्मा से प्रकाश मिलता है और जो मन का अधिष्ठान है उसी में मन मिल मिल जाय तो कितना आनन्द। इसी को मन का अमनीभाव कहा जाता है।

हमको जो कुछ सचराचर द्वैत दिखाई देता है वह संकल्प विकल्पात्मक मन के कारण ही तो है। जब मन का मनपन चला गया तब बाकी क्या रहा "आनन्द, आनन्द"।

वैदिक विज्ञान और मानव

श्री 'उद्धव'

[गताङ्क से आगे]

(३)

वैदिक पञ्चपर्वविद्या और मानव—

पञ्चपर्वा विश्व से सम्बन्ध रखनेवाली विश्व-विद्या संकेत भाषा में 'पुण्डीरविद्या' कहलाई है, जिसका लौकिक अर्थ—'विश्वपर्वविद्या' है। विश्व एक है, उसके पुण्डीर अर्थात् पर्व पाँच हैं; अतएव यह विद्या 'पञ्चपुण्डीरा—प्राजापत्यवल्शा विद्या' कहलाई है। वैदिक विज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाली सृष्टिविद्या या विश्वविद्या और उसकी आधाररूपा वेदविद्या कैसी दुरूह है ? इस प्रश्न का सुप्रसिद्ध उस आख्यान से भली भाँति स्पष्टीकरण हो जाता है, जिसका महर्षि आङ्गिरस भरद्वाज तथा देवेन्द्र की रहस्यपूर्ण संवादभाषा से सम्बन्ध है।

सुप्रसिद्ध वेदनिष्ठ महर्षि भरद्वाज ने अपनी वेदस्वाध्याय विषयिणी जिज्ञासा की पूर्ति के लिए आयुःप्राण प्रवर्तक सूर्य के इन्द्रतत्व की आराधना की। देवेन्द्र ने प्रसन्न होकर इन्हें ३०० वर्षों की आयु प्रदान की। वर से प्राप्त आयु के इन तीन सौ वर्षों में अनन्यनिष्ठा से भरद्वाज वेद के तत्वचिंतन में लगे रहे। काल समाप्त होने पर अन्त में भरद्वाज का शरीर सर्वथा जीर्ण-शीर्ण हो गया, वृद्धावस्था ने घेर लिया। सर्वथा अशक्त बन भरद्वाज ने शय्या पकड़ ली। अपनी इस सोई हुई अवस्था में पड़े हुए भरद्वाज अन्तिम समय की प्रतीक्षा कर ही रहे थे, तब सहसा एक दिन देवेन्द्र आ पहुँचे और भरद्वाज से कहने लगे कि—भरद्वाज ! यदि मैं तुम्हें १०० वर्ष की आयु और प्रदान कर दूँ, तो इस प्राप्त नवीन आयु का तुम किस कार्य में उपयोग करोगे ? वेद-निष्ठ भरद्वाज के मुख से यही वाग्धारा निकली कि—भगवन् ! मैं उस नवीन आयु का भी वेद-चिन्तन में ही उपयोग करूँगा। क्योंकि अभी मेरा वैदिक तत्वज्ञान अपूर्ण है। भरद्वाज की इस आत्मनिष्ठा से वेद के अधिष्ठाता देवेन्द्र आत्म-विभोर हो पड़े। एवं सावित्राग्नि के माध्यम से वेद के अनन्त स्वरूप का बोध कराने की कामना से देवेन्द्र ने भरद्वाज के सम्मुख वेद के पर्वत के आकार वाले तीन विशाल स्तूप रक्खे, जो अब तक भरद्वाज ने नहीं देखे थे। उन तीनों वेदस्तूप के पर्वतों से देवेन्द्र ने एक-एक मुट्ठी भर वेद उठा लिया और इन तीन मुट्ठी वेदों की ओर भरद्वाज का ध्यान आकर्षित करते हुए कहने लगे कि—ऋषे ! देख रहे हो मेरी मुट्ठी में क्या है ? ये हैं वेद।

अपनी आयु के भुक्त तीन सौ वर्षों में तुमने ऋक्, साम और यजुरूप इन आगे रखे हुए तीन पर्वतों में से अब तक एक-एक मुट्ठी ही वेद का संग्रह किया है। अभी तो यह अनन्त पर्वत के समान अनन्ता वेदराशि तुम्हारे लिए अज्ञाता ही बनी हुई है। अनन्त हैं वेद। कौन इनके आनन्त्य की थाह लगा सका है ? अतएव छोड़ दो यह आशा कि—यदि १०० वर्ष और मिल जायँगे, तो तुम अपनी वेदज्ञान की जिज्ञासा शान्त कर लोगे। यदि उस आनन्त्य का तुम्हें बोध प्राप्त करना ही है, तो तुम्हें उस सावित्राग्नि की ही आराधना करनी चाहिए, जिसका स्वरूप मैं आज तुम्हारे सम्मुख रख रहा हूँ। यह कहते हुए आगे चल कर देवेन्द्र ने सावित्राग्नि का स्वरूप समझा दिया। इस रहस्यपूर्ण तत्वघटना का दिग्दर्शन भगवान तित्तिरि ने दिया है—

"भरद्वाजो ह वै त्रिभिरायुभिर्ब्रह्मचर्यमुवास। तं ह जीर्णं, स्थविरं, शयानं-इन्द्र

उपव्रज्य उवाच । भरद्वाज ! यत्ते चतुर्थमायुर्दद्यां किमनेन कुर्या इति ? । ब्रह्मचर्यमेवैनेन चरेयमिति होवाच । तं ह त्रीन् गिरिरूपानविज्ञातानिव दर्शयाञ्चकार । तेषां हैकैकस्मान् मुष्टिमाददे । स होवाच भरद्वाजेत्यामन्त्र्य-वेदा वा एते । अनन्ता वै वेदः । एतद्वा एतैस्त्रिभिरायुर्भिर न्ववोचथाः । अथ इतरदनुक्तमेव ।"

—तैत्तिरीय ब्रा० ३।१०।११

"एहि ! इमं विद्धि ! अयं वै सर्वविद्या ! तस्मै हैतमग्निं सावित्रमुवाच । एषा उवा त्रयी विद्या । तं विदित्वा (भरद्वाजः) अमृतो भूत्वा स्वर्गं लोकमियाय-आदित्यस्य सायुज्यम् ।"

(तै० ब्रा०)

भारतीय संस्कृति में अनन्त वेद और अनन्त परमेश्वर, दोनों अभिन्न हैं । अनन्त वेदशास्त्र से संबंध रखने वाली सावित्राग्नि जैसी कुछ परिभाषाएँ विश्वपर्व के स्वरूप प्रसङ्ग में उपस्थित हो रही हैं, जिसके द्वारा आप अवश्य ही अनन्त सच्चिदानंद ब्रह्म के साथ अनन्त वेद की अभिन्नता समन्वित कर सकेंगे । पहले षड्ऋतु के स्वरूप दिखाते हुए यह कहा गया कि—सोम उत्तर से दक्षिण की ओर एवं अग्नि दक्षिण से उत्तर की ओर आ-जा रहे हैं । कौन से अग्नि और सोम आ-जा रहे हैं ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि—ऋताग्नि और ऋतुसोम आ-जा रहे हैं । क्या स्वरूप है ऋताग्नि और ऋतसोम का ? इस प्रश्न का समाधान उस मंत्र से हुआ है, जिसका भारतीय द्विजातिवर्ग नित्य अपने सन्ध्याकर्म में स्मरण करता रहता है-—

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥१॥
समुद्रादर्णवादधि सम्वत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥२॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथ्वीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥३॥

ऋक्संहिता १०।१९०।

सृष्टिविज्ञान का रहस्यपूर्ण विश्लेषण करने वाली ऋक्संहिता के अन्त में उक्त तीनों मंत्रों की समष्टि रूप एक मंत्रात्मक १९०वाँ सूक्त समस्त सृष्टिविज्ञान का संग्रहात्मक सूक्त है । इस सूक्त में संपूर्ण सृष्टिविज्ञान का सूत्ररूप से उपसंहार ही हुआ है । संध्या के इस मन्त्र के द्वारा ऋषिप्रज्ञा की इस देश के द्विजाति मानव से यही कामना है कि भारतीय ज्ञान-विज्ञान कोश का सन्देशवाहक द्विजाति अपनी गायत्री के आराधना काल में प्रतिदिन स्मरण करता रहे कि-"उसे ईश्वरीय ज्ञान विज्ञानात्मक सृष्टि तत्वों से राष्ट्रप्रजा का उद्बोधन कराते हुए निष्ठापूर्वक इसे कर्तव्य कर्मनिष्ठा में इसी तत्वज्ञान विज्ञान के आधार पर आरूढ़ बनाए रखना है ।" मन्त्र का अक्षरार्थ यह है—

"ऋषिप्राण सप्तक की समष्टिरूप सप्तपुरुषात्मक प्रजापति के वाङ्मयश्रम से युक्त प्राणमय तपन से तथा मनोमय सन्तपन से अभीद्ध-प्रचण्ड रूप से प्रदीप्त बने हुए तप से पहले ऋत—सत्यरूप सुब्रह्म—ब्रह्म तत्व ही प्रकट हुए । त्रयी-ब्रह्म (तीन वेद) ब्रह्म कहलाया और यही सत्य बना । चतुर्थ अथर्वब्रह्म सुब्रह्म कहलाया और यही ऋत बना । सत्य स्वयंभू और ऋत परमेष्ठी, ये दोनों प्रजापति के प्रचण्ड तप से पहले प्रकट हुए । ऋत ने सत्य को अपने गर्भ में स्थित कर लिया, अतएव आगे चलकर ऋत परमेष्ठी ही प्रधान बन गया । ऋत परमेष्ठी से आपोमयी वारुणी रात्रि का विकास हुआ, जिसके आधार पर-'अम्भोवाद' प्रतिष्ठित है एवं इसी आधार पर-'सर्वमापोमयं जगत्' सिद्धान्त व्यवस्थित है । यही आपोमय ऋत रात्रितत्व आगे चलकर पार्थिव समुद्र के रूप से व्यक्त हुआ, जिसे 'अर्णव-समुद्र' कहा गया है । स्वायम्भुव सत्यसमुद्र जहाँ 'नभस्वान्' कहलाया है, स्वयं रात्रिरूप पारमेष्ठ्य समुद्र जहाँ 'सरस्वान्' कहलाया है, वहाँ सौर और पार्थिव सम्वत्सर

की परिधि बनाने वाला रोदसी त्रिलोकी का समुद्र ही अर्णव समुद्र कहलाया है, जो कि आगे जाकर सम्वत्सर की वेला बनने वाला है। इसी अर्णव-समुद्र से उसके गर्भ में रहने वाले प्राणरूप अङ्गिरा-अग्नि-के चयन से सीमात्मक एक अग्निमण्डल का विकास हुआ, जो सर्वतः त्सरण करने के कारण 'सम्वत्सर' कहलाया। यहाँ आकर अर्णवरूपा रात्रि का अहःरूप अग्नि तथा रात्रिरूप सोम, इन दो भागों में विभाजन हुआ। एकत्रित यह अहः रूप अग्नि ही सूर्य रूप में परिणत हुआ और एकत्रित रात्रिसोम ही चन्द्ररूप में परिणत हुआ। यों मूल के सत्य और ऋत तत्व ही परंपरा से सूर्य-चन्द्र रूप से व्यक्त हुए। सूर्य और चन्द्र के भाव वाले इस साम्वत्सरिक सर्ग का ही अन्त में जाकर पृथ्वी, अंतरिक्ष, द्यौ और स्वः नाम के चतुर्थ आपोलोक रूप से इन चार लोकों में विकास हुआ। एवं विधाता विश्वकर्मा-प्रजापति का यह अथ से इति तक का सृष्टिकर्म यों यथापूर्व उपकल्पित बना।"

'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत' इत्यादि मंत्र के ऋत एवं सत्य, इन दो शब्दों को ही यहाँ प्रधानरूप-से लक्ष्य बनाना है। क्या अर्थ है विज्ञानदृष्टि से इन शब्दों का? ऋषि समाधान करते हैं— 'सहृदयं शरीरं सत्यम्' —अहृदयं-अशरीरं ऋतम्' एवं 'अहृदयं सशरीरं ऋतसत्यम्'। हृदय अर्थात् केन्द्र और शरीर अर्थात् पिण्ड, जहाँ ये दोनों भाव समन्वित रहते हैं, उसे 'सत्य' पदार्थ कहा जाता है। जिन पदार्थों का कोई स्वतन्त्र केन्द्र नहीं होता, न अपना कोई स्वतंत्र पिण्ड या आकार होता, वे पदार्थ 'ऋत' कहलाएँ हैं। एवं जिनमें केन्द्र भाप न होकर केवल पिण्ड भाव ही रहता है, वे पदार्थ 'ऋतसत्य' कहलाएँ हैं। इस प्रकार विश्व के पदार्थों को सत्य, ऋत एवं ऋत सत्य, इन तीन वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं।

—क्रमशः

वेदों का महत्व

श्री स्वामी विष्णुतीर्थ जी

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं,
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्म—बुद्धि-प्रकाशं,
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥
ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं
पूर्णात् पूर्ण मुदच्यते
पूर्णस्य पूर्ण-मादाय
पूर्णमेवावशिष्यते॥

वैदिक संस्कृति का महत्व एवं प्राचीनत्व

वैदिक संस्कृति—आर्य जाति की देन—समस्त विश्व के कल्याणार्थ है। यद्यपि अज्ञानवश उस पर बहिर व अभ्यंतर आक्रमणों का प्रहार होता रहा है तथापि यह कहना अत्योक्ति नहीं है कि भारतीय विद्वत् समाज ने उसे एक धरोहर समझकर महान आपत्तियों और कठिन परिस्थितियों का सामना करते हुए भी येन केन प्रकारेण उसकी रक्षा की है। इसका दृश्य परिणाम यह है कि वैदिक वाङ्मय जैसा सहस्त्राब्दियों पूर्व था, वैसा ही अक्षरशः मात्रा और अनुस्वार सहित आज भी उपलब्ध है।

वैदिक वाङ्मय की महत्ता

वैदिक वाङ्मय ज्ञान का भण्डार, गूढ़ रहस्यों से ओतप्रोत, गहन दार्शनिक विचारों से भरपूर एवं आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा

आधिभौतिक विज्ञान के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्वों पर प्रकाश डालने में समर्थ है।

पूर्व ऐतिहासिक (Pre Historic) दृष्टि से भी उसका मूल्य कम नहीं। यद्यपि वेदों को हिन्दुओं का धर्म-ग्रंथ माना जाता है परन्तु वास्तविकता यह है कि वैदिक ज्ञान किसी जाति विशेष या सांप्रदायिकता की सीमाओं में बन्द नहीं किया जा सकता। वैदिक विचार संपूर्ण मानव जगत् के लिए एक समान श्रेयस्कर है।

यह सर्वमान्य तथ्य है कि वैदिक वाङ्मय से प्राचीन अन्य दूसरा कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है। और अन्यत्र दूसरे धर्मों में जहाँ कहीं भी उच्च पवित्र विचार मिलते हैं वे वैदिक वाङ्मय के प्रतिबिम्ब व विकृत छाया रूप प्रतीत होते हैं।

अस्य महतो भूतस्य निश्वसितम्।
तत्ऋग्वेदो यजुर्वेदः 'सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः ॥

इस उक्ति के आधार पर वेदों को परमात्मा के निःश्वास से उद्भूत कहा जाता है।

परमात्मा ज्ञान स्वरूप है। और समस्त जगत उसके ज्ञान की विभूति है।

"सत्यं ज्ञानं मनन्तं ब्रह्म"

ब्रह्म का स्वरूप अनंत सत्य ज्ञान कहा गया है। इसलिए उसका निःश्वास से उद्भव होने वाले वेद भी तद्रूप हैं और समस्त ज्ञान के आदि कारण हैं भी।

मुंडकोप निषद में परा व अपरा भेद से विद्या के दो रूप कहे गये हैं।

तत्रा परा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः
शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं
छन्दो ज्योतिषिमिति ॥
अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥

मनुष्य-जीवन का ध्येय परमात्म प्राप्ति है। जिसके बिना शाश्वत शांति असम्भव है। विश्व के विभिन्न संप्रदायों, धर्मों अथवा मजहबों का लक्ष्य एक मात्र भगवद् प्राप्ति ही है। यद्यपि उक्त श्रुति में भगवत् प्राप्ति परा विद्या का विषय कहा गया है तो भी उपासना, अर्चना, स्तुति, कीर्तन, पूजा, पाठ जो भगवद् प्राप्त्यर्थ किये जाते हैं, वे अपरा विद्या के ही अंग हैं।

"परा विद्या" शब्दों का विषय नहीं, अनुभूति का विषय है। और उसकी अनुभूति मलीन अंतःकरण के लिए कदापि संभव न होने के कारण उपासना इत्यादि की आवश्यकता अनिवार्य है।

इस दृष्टिकोण को लेकर अखिल अध्यात्म-साधनसोपान को भक्ति के त्रिविध अंग उपासना, कर्म और ज्ञान की श्रेणियों में रखा गया है।

वैदिक वाङ्मय में प्रथम मन्त्र-संहिताओं का स्थान है। उनमें ऋक संहिता अर्चना (अर्थात् उपासना) परक है। यजुःसंहिता यज्ञपरक और सामवेद संहिता स्तवन परक है।

वेदों के विभाग एवं प्रकार

कुछ लोगों का ऐसा विश्वास है कि संहिताओं को ही वेद कहना चाहिए।

आपस्तंभ परिभाषा सूत्र के अनुसार :—

मंत्र ब्राह्मणयोर्वेद नाम धेयम्
(आप. परि. १.३३)

मंत्र से संहिता और ब्राह्मण से ब्राह्मण ग्रन्थ और आरण्यक समझना चाहिए, इस आधार पर संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषत् चारों ही वेद शब्दवाच्य हैं। उप-निषत् स्वतन्त्र साहित्य नहीं। केवल संहिता, ब्राह्मण और आरण्यकों से ही संकलित किये गये हैं।

इस प्रकार वेद के चार विभाग किये जाते हैं—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्।

ब्राह्मण ग्रंथों में यज्ञ विषयक व्यवस्था की गई है। और आरण्यक एवं उपनिषदों में तत्व-ज्ञान का विषय है।

चारों वेदों की विभिन्न स्थानीय गुरुकुलों के कारण अनेक शाखाएँ हो गई थीं ऐसा प्रतीत

... खाओं में मूल मन्त्रों के कहीं कहीं पाठांतर भेद हैं।

ऋगवेद की २१ शाखाएँ थीं परन्तु आजकल

केवल "शाकल्ल" शाखा ही प्रचलित है। शेष सब लुप्त हो गई हैं।

इसी प्रकार कृष्ण यजुर्वेद की ८५ व शुक्ल यजुर्वेद की १६ शाखायें थीं। परन्तु अब केवल कृष्ण यजुर्वेद की ५ शाखायें उपलब्ध हैं। जिनके नाम निम्न प्रकार हैं :–

तैत्तिरीय, मैत्रायणी, कठ, कापिष्ठल व श्वेताश्वेतर। शुक्ल यजुर्वेद की १६ शाखाओं में से वाजसनेयि अथवा माध्यन्दिन एक शाखा उपलब्ध है।

सामवेद की १००० शाखायें थीं। परन्तु अब कौथुम व राणायनीय दो ही शाखाएँ उपलब्ध हैं।

अथर्ववेद की ६ शाखाएँ थीं। अब केवल 'पिपलाद' व 'शौनक' दो ही शाखाएँ उपलब्ध हैं।

इससे स्पष्ट है कि वेदों का पठन-पाठन इतना कम हो गया कि बहु-संख्यक शाखाएँ लुप्त हो गईं। यदि यही क्रम चलता रहा और ब्राह्मणों की आँखें नहीं खुलीं तो कालांतर में समस्त वेद लुप्त हो सकता है।

अब तक जो वाङ्मय उपलब्ध है उसका श्रेय हमारे पूर्वजों को ही है जिन्होंने कठिन परिश्रमपूर्वक समस्त वाङ्मय को कंठस्थ व हस्त-लिखित लिपिबद्ध करके सुरक्षित रखा और मध्यकालीन यवन आक्रांताओं से उसकी रक्षा की। परन्तु अब खेद है कि लेखन कला का स्थान छापाखाने ने ग्रहण कर लिया जो एक व्यापार का धंदा है। बिना ग्राहक के कोई व्यापार नहीं चल सकता। और यदि वैदिक वाङ्मय के पढ़ने वाले न रहे तो फिर छपने की क्या आशा की जा सकती है? और जो पुस्तकें अब मिलती हैं वे भी कालांतर में कीड़ों का खाद्य होकर नष्ट हो जायेंगी।

इसी प्रकार प्रत्येक वेद के ब्राह्मण व आरण्यक की नामावली निम्न प्रकार है :—

१. ऋग्वेद के ब्राह्मण :– (१) शाकल
(२) वाष्कल

ऋग्वेद के आरण्यक :– (१) ऐतरेय आरण्यक
(२) सांख्यायन आरण्यक

२. कृष्णयजुर्वेद के ब्राह्मण :– (१) तैत्तिरीय संहितांतर्गत ब्राह्मण

कृष्णयजुर्वेद के आरण्यक :– (१) तैत्तिरीय आरण्यक

शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मण :– (१) शतपथ ब्राह्मण

शुक्लयजुर्वेद के आरण्यक :– (१) बृहदारण्यक

३. सामवेद के ब्राह्मण :–

(१) पंचविंश (२) षडविंश, (३) साम-विधान
(४) आर्षेय (५) मंत्र (५) देवताध्याय (७) वंश
(८) संहितोपनिषद् ब्राह्मण
(९) जैमिनीयब्राह्मण
(१०) जमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण
(११) आर्षेय ब्राह्मण

(४) अथर्ववेद के ब्राह्मण :– (१) गोपद ब्राह्मण

इनके अतिरिक्त कर्मकांड के विधि-विधान समझाने के लिए गृहसूत्र व धर्मसूत्र हैं, जो वैदिक वाङ्मय के सहायक ग्रन्थ कहे जा सकते हैं। वेदों के समझने के लिए पाणिनि व्याकरण पर पातंजल महाभाष्य व शब्दों के अर्थ के लिए यास्काचार्य का 'निरुक्त' भी आवश्यक पठनीय होता है।

त्रिविद्या

ऋग्वेद, यजुर्वेद व सामवेद तीन "त्रिविद्या" के नाम से जाने जाते हैं। क्योंकि प्रत्येक यज्ञ में तीनों ही वेदों से काम लिया जाता है। प्रत्येक वेद का पृथक ऋत्विज होता है। ऋग्वेद के ऋत्विज "होता", यजुर्वेद का "अध्वर्यु" तथा सामवेद का "उद्गाता" कहलाता है।

तीनों के ऊपर अध्यक्ष "ब्रह्मा" होता है। जो चारों वेदों का जाननेवाला होना चाहिए।

मुंडकोपनिषत् की इस श्रुति में कहा गया है :—

"तदेतत्सत्यं मंत्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा संततानि ॥

अर्थ :—मंत्रों में जो कर्म ऋषियों ने देखे उनका ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तीनों में विस्तार है। अथर्ववेद का विषय विघ्नों से रक्षा करने के लिए 'अभिचार परक' और "आध्यात्मिक" दोनों प्रकार है। इसलिए इसे "ब्रह्मवेद" भी कहते हैं।

तैत्तिरीयोपह्व निषद् में ऋक्, साम, और यजुर्वेदों को क्रमशः "भूः" 'भुव' 'स्वः' तीनों व्याहृतियों से संबंधित कहा है। और अथर्ववेद को "ब्रह्मवेद" कहकर 'महः' चौथी व्याहृत्ति से संबंधित किया गया है।

पूर्व काल के वेदों के यह चार विभाग पृथक-पृथक संहिताकार नहीं थे। यह कार्य श्री वेद व्यासजी ने किया।

श्रीवेदव्यासजी ने जो यजुर्वेद संहिता महर्षि वैशम्पायनजी को पढ़ाई थी वह आजकल कृष्ण यजुर्वेद के नाम से जानी जाती है। शुक्ल यजुर्वेद उनके शिष्य महर्षि याज्ञवल्क्य जी ने सूर्य से प्राप्त किया था। इसलिए यजुर्वेद की दो संहिताएँ हैं कृष्ण व शुक्ल।

वेद अपौरुषेय हैं

मंत्रों के ऋषि द्रष्टा कहलाते हैं, न कि रचयिता। उन्होंने मंत्रों की अपनी मेधाबुद्धि से रचना नहीं की। मन्त्र और उनसे संबंधित कर्म को जैसा उन्होंने देखा वैसा कंठस्थ गुरुशिष्य-परम्परा से अध्ययन कराया इसीलिए सब "श्रुतिपद" वाच्य हैं। इसलिए कहा गया है कि वेद अपौरुषेय हैं। जैसा कि इन श्लोकों में कहा गया है।

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयं भुवा ॥
अविदित्वा ऋषि छन्दो दैवतं योगमेवच।
योऽध्या पयेजपेद्वापि पापीयान्जायते तु सः ॥
ऋषिच्छन्दो दैवतानि ब्राह्मणार्थं स्वराद्यपि।
अविदित्वा प्रयुञ्जानो मंत्रकण्टक उच्यते ॥
स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्रा विनियोगोऽर्थ एवच।
मंत्र जिज्ञासमानेन वेदितव्यं पदे पदे ॥

अर्थ—युग के अंत में इतिहासों सहित अंतरहित वेदों को महर्षियों ने तप द्वारा प्राप्त किया। क्योंकि स्वयंभू ने उनको पहले अनुज्ञा दी थी। इसलिए ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग को बिना जाने जो वेदों को पढ़ता है या पढ़ाता है वह पापी हो जाता है।

ऋषि, छंद, देवता और स्वर बिना जाने मंत्रों का प्रयोग करने में ब्राह्मण के लिए मंत्र कंटक कहा जाता है।

स्वर, वर्ण, अक्षर, मात्रा और विनियोग मंत्र के प्रत्येक पद पद पर मंत्र के जिज्ञासु को जानना चाहिए।

वेदों के मंत्रों में दैवी शक्ति

वेदों के मंत्रों में दैवी शक्ति निहित है जो उनके अनुष्ठान द्वारा जाग्रत की जाती है। इसलिए यदि उस मंत्र के द्रष्टा ऋषी का पूर्व स्मरण न किया जाय तो उस ऋषी का आशीर्वाद कैसे प्राप्त होगा? और बिना ऋषियों के आशीर्वाद के सिद्धि प्राप्त करना कैसे संभव है?

प्रत्येक मंत्र का कोई एक देवता कहा गया है, जिसके लिए ही उस मंत्र का प्रयोग होना चाहिए। दूसरे देवता के लिए, उसका प्रयोग करना अनुचित होगा। मंत्र के द्वारा उस देवता का आह्वान व अर्चन किया जाता है। यदि मंत्रों का स्वरों सहित शुद्ध जप किया जाय तब ही मंत्र से साध्य कार्य की सिद्धि होगी। इसलिए यह भी जानना आवश्यक है कि कौन सा मंत्र किस कार्य के लिए विनियुक्त किया जाय।

वेदों में इंद्र, वरुण, अश्विनीकुमार, प्रभृति देवता के नाम मिलते हैं। वास्तव में एक ब्रह्म के सिवाय दूसरा देव नहीं है। अर्थात् सब कर्मों का फल देने वाला एक ही "परमेश्वर" हैं, जैसा कि भगवान ने गीता में कहा है :—

"लभतेच ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्"

उसकी शक्तियाँ विश्व में विभिन्न रूपों में कार्य कर रही हैं। श्रुति वचन है—

एकोहि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य
इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः ।।

अर्थ :—रुद्र भगवान एक ही है। और वह इन लोकों पर अपनी अनेक शक्तियों द्वारा शासन करता है। वे शक्तियाँ जड़ नहीं समझी जानी चाहिए, जैसे कि आधुनिक भौतिक विज्ञान-वेत्ताओं की समझ है। ब्रह्म जो इस जगत का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है उसकी शक्ति अचेतन अथवा जड़ समझना सर्वथा भूल है।

अदिति :—उसको वेदों में आदि शक्ति देवतामयी माना गया है। उसको ऋग्वेदीय मंडल १० अध्याय ६ सूक्त ७२ में "अदिति" कहा गया है जो सब देवताओं की जननी कही जाती है। सूर्य उसका अपत्य होने के कारण ही आदित्य कहलाता है।

अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्व दितिः परि
अदितिर्ह्य जनिष्ट दक्षया दुहिता तव।
तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृत बन्धवः।

अर्थ :—अदिति से दक्ष का जन्म हुआ और फिर दक्ष से अदिति हुई। हे दक्ष! अदिति ने जो तेरी दुहिता है उसने सब देवताओं को जन्म दिया जो भद्र अमृतबंधु अर्थात् नित्य सनातन हैं। और सबका कल्याण करनेवाले हैं।

इसलिए सब देवता विभिन्न कार्यों पर नियुक्त एक ब्रह्म की अनेक शक्तियाँ विभिन्न होने पर भी ब्रह्म स्वरूप ही है। यह भाव नीचे दी हुई ऋचा में स्पष्ट दिखता है।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथोदिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।

यह मंत्र अथर्ववेद में भी मिलता है इसका अर्थ इस प्रकार है—

इन्द्र को, मित्र को, वरुण को, अग्नि को कहा गया है कि यह, दिव्य पूज्य सुपर्ण अर्थात् तेजोमय पुरुष ही हैं। एक होने पर भी, विप्रगण अनेक नामों से उसका बखान करते हैं। उसे ही अग्नि, यम, मातरिश्वा (वायु) भी कहते हैं।

यथा 'ब्रह्मांडे तथा पिण्डे' के न्याय के अनुसार जो ब्राह्मी शक्तियाँ बाहर ब्रह्मांड में कार्य कर रही हैं वे प्रत्येक मनुष्य के शरीर में भी कार्य करती हैं। जिनकी जागृति तत्संबंधी मंत्रों द्वारा बाहर और अन्तर में उभय प्रकार की जा सकती है।

बहिर्जागृति के विज्ञान को आधिदैविक और अपने अन्तर में उनकी जागृति विज्ञान को अध्यात्म-विज्ञान कहते हैं।

कठोपनिषत् की इस श्रुति के अनुसार सारा जगत् प्राण की कृती है।"

यदिदं किंच जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।

अर्थ :—यह सारा जगत जो कुछ है सब प्राण के स्पंदन से निःसृत है। अर्थात् प्राण ही स्वतः स्पंदन द्वारा सारे जगत का रूप धारण किये हुए है। वह प्राण वज्रतुल्य सबको भयभीत करके शासन कर रहा है।

प्रश्नोपनिषद् में प्राण को ब्रह्म से उद्भूत उसकी रश्मि कहा है।

"आत्मन एषः प्राणो जायते"

मुंडकोपनिषत् की श्रुति भी यही कहती है।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणिच ।।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ।।

अर्थ :—उस ब्रह्म से प्राण उत्पन्न होता है। फिर मन, सब इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, अग्नि, जल, और सारे विश्व को धारण करनेवाली पृथ्वी उत्पन्न होती है। इन श्रुतियों के आधार पर यह स्पष्ट है कि वेदों के अनुसार सारा विश्व ब्रह्म की प्राण रूपी आदि शक्ति की परिणती है। उस प्राण की ही आदि शक्ति का नाम अदिती है। जो ब्रह्मांड और पिंड में अनेक रूप धारण करके विभिन्न कार्यों का संचालन कर रही है। यह बात कठोपनिषत् की निम्न लिखित श्रुति में कही गई है।

या प्राणेन संभवत्यदितिर्द्देवतामयी। गुहां प्रविश्य तिष्ठंती या भूतेभिर्व्यजायत एतद्वैतत् ॥

अर्थ :—जो प्राण से उत्पन्न होती है अदिति देवतामयी, वह हृदय गुहा में या बुद्धि गुहा में ठहरी हुई प्राणीमात्र में व्यक्त हो रही है। यमराज नचिकेता को कहते हैं कि यह अदिति वह आत्मा ही है, जिसके बारे में तू पूछता है।

अथर्ववेद के कांड ११ सू० ८ मन्त्र १६, १७, में वर्णन है कि देवताओं ने जिज्ञासा की कि इस शरीर में जो चेतन वर्ण (रंग) है वह किसका है। उत्तर में कहा गया कि वह ईश्वर की शक्ति सतीईषा का वर्ण है। कठोपनिषत् की उपर्युक्त श्रुति से संगति करने पर यह स्पष्ट है कि अथर्ववेद की ईषाशक्ति और ऋग्वेद की अदिति एक ही है। मन्त्र इस प्रकार है :—

यत्तच्छरीरे मशयत संधया संहितं महत्। ये नेद् मदय रोचते को अस्मिन वर्णमाभरत ॥
सर्वे देवा उपाशिक्षन् तद्जानात् वधुः सती।
ईशावशस्य या जाया सास्मिन वर्णमाभरत ॥

अर्थ :—जिसने इस शरीर को जोड़कर महान् बना रखा है, और जिसके कारण यह सुन्दर लगता है वह कौन है जो इस शरीर में इस वर्ण की रक्षा करता है।

ऐसी सब देवताओं ने जिज्ञासा की। उसे ईश्वर की जाया ईषा वधुसती जान गई। उसी ने यह वर्ण भरा हुआ है। अर्थात् उसी के कारण शरीर में चेतना है।

यजुर्वेद अध्याय २५ के मन्त्र २३ में अदिति का स्वरूप इस प्रकार दिया है।

अदिति द्यौरदितिरंतरिक्ष
मदिति र्माता स पिता स पुत्रः
विश्वे-देवा अदितिः पंच जना।
अदिति र्जातमदितिर्जनित्वम् ॥

अर्थ :—अदिति 'द्यु' लोक है। अदिति अन्तरिक्ष है। अदिति माता है। वही पिता, वही पुत्र, वही विश्वदेवा है। पाँच जनों की पंचायतन अदिति है।

जिसने जन्म लिया है अर्थात् जात मात्र अदिति है। और जो जन्म लेंगे सब अदिति हैं।

अदिति आदि शक्ति है। उसकी अभिव्यक्ति जड़ चेतन स्वर पर सर्वत्र समझनी चाहिए। इसलिए वैदिक विचार धारा के अनुसार सारा जगत् चेतन सत्ता की परिणति है। और जड़ जैसी कोई वस्तु नहीं। प्राण का अर्थ भी यही है। वाणी के रूप में सरस्वती भी अदिति का ही रूप है। और इसी प्रकार सूर्य की शक्ति सावित्री जिसकी उपासना गायत्री मन्त्र द्वारा की जाती है, अदिति का ही रूप है।

यजुर्वेद अध्याय ३८ मन्त्र १-२-३, में अदिति और सरस्वती का आवाहन किया गया है :—

ईडे एह्यदितयेहि सरस्वत्येहि
असावेह्यसावेह्य सावेहि ॥१॥

अर्थ :—हे ईडे, हे अदिति, हे सरस्वति, आइए! हमारे इस कार्य की सिद्धि के लिए इस रूप में आइए! यहाँ अदिति को गाय से उपमित करके कहा गया कि हम अदिति की रास्ना (गले की रस्सी) को अश्विनीकुमार रूपी बाहुओं से और पूषा (सूर्य) रूपी हाथों से तुझे सूर्य या सविता की आज्ञा में रहकर बुलाते हैं।

नियंत्रण मन का किया जाता है मस्तिष्क का नहीं

श्री भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव

बातचीत के दौरान में एक दिन मैंने अपने एक मित्र महोदय को बताया कि हर समय चिन्तन एवं मनन में खोये मन के कारण मैं दिन प्रति दिन विस्मृत का शिकार बनता जा रहा हूँ। प्राय: जो भी कार्य करने को कहा जाता है यथासमय नहीं कर पाता हूँ । समझ में नहीं आता क्या करूँ ! इस पर उन्होंने बतलाया "तुम्हें अपने मस्तिष्क पर नियंत्रण रखना चाहिए।" उनकी यह बात मुझे बड़ी अजीब सी लगी । क्योंकि मेरी समझ में मस्तिष्क स्वयं नियंत्रण का साधन है। वह नियंत्रण करता है; नियंत्रण नहीं होता । अतः मैंने उनसे पूछा कि किस साधन की सहायता से मस्तिष्क को नियंत्रित किया जा सकता है ? इस पर उन्होंने उत्तर दिया 'मन' से । उनकी यह बात भी मुझे ठीक न लगी । तथा मैंने उन्हें बताया कि मस्तिष्क एवं बुद्धि द्वारा मन पर नियन्त्रण किया जाता है, मन द्वारा मस्तिष्क अथवा बुद्धि पर नहीं। मेरे इस कथन से वे सहमत न हुए और बोले—"लेकिन मनुष्य एक मशीनरी है जिसे रेगुलेट किया जा सकता है।" यह ठीक है कि मनुष्य एक मशीनरी है जिसे रेगुलेट किया जा सकता है। किन्तु इस मशीनरी के कई भाग होते हैं, जिनका अपना अलग-अलग महत्त्व है। साधारणतया हम मशीनरी को दो भागों में विभक्त कर उसकी कार्य-प्रणाली का अध्ययन करते हैं। ये भाग हैं :—इञ्जन और मशीनरी का ढाँचा। मनुष्य-रूपी मशीनरी का ढाँचा शरीर है तथा इञ्जन मनुष्य का मन जो कि सारी मशीनरी की गति प्रदान करता है। तथा इस मन-रूपी इञ्जन को आवश्यकतानुसार नियंत्रित करने के लिए बुद्धि-रूपी ब्रेक का प्रयोग किया जाता है।

यह तर्क अगले दिन तक चलता रहा। दूसरे दिन उन्होंने कहा—'हाँ, एक बात कल मैं कहना भूल गया था और वह यह कि कभी मन मस्तिष्क को नियंत्रित करता है और कभी मस्तिष्क मन को।' स्पष्ट है ऐसा तर्क वे लोग ही उपस्थित करते हैं जिन्हें मन और मस्तिष्क में विधिवत भेद ज्ञान नहीं होता । या अन्य शब्दों में यह कह लिया जाय कि उन्हें इस बात का पता नहीं होता कि नियन्त्रण किसका किया जाता है ।

सामाजिक जीवन में नियंत्रण की आवश्यकता तब उत्पन्न होती है जब सामाजिक दृढ़ता का ह्रास होने लगता है। मानव जगत में सद् और असद् दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ सदैव विद्यमान रहती हैं। किसी में सद् प्रवृत्तियों की प्रचुरता होती है किसी में असद् प्रवृत्तियों की। तथा किसी व्यक्ति विशेष का आचरण अच्छा है या बुरा, इन दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों में से किसी एक की प्रचुरता पर निर्भर करता है। सद् प्रवृत्तियाँ शुभ एवं मंगलकारी होती हैं। तथा असद् प्रवृत्तियाँ अशुभ एवं असंगलकारी मानी जाती हैं। तथा इन्हीं मंगलकारी असद् प्रवृत्तियों की प्रचुरता के फलस्वरूप जब सामाजिक दृढ़ता का ह्रास होने लगता है तब सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता प्रतीत होती है। क्योंकि यदि इन अमंगलकारी असद् प्रवृत्तियों का नियंत्रण न किया जाय तो समाज में किसी प्रकार का संगठन स्थापित नहीं किया जा सकता।

सद् प्रवृत्तियाँ कभी असद् नहीं हो सकतीं या यों कह लिया जाय कि सद् प्रवृत्तियों के नियंत्रण की कोई आवश्यकता नहीं होती। नियंत्रण तो असद् प्रवृत्तियों का किया जाता है। ठीक इसी प्रकार मस्तिष्क एवं बुद्धि के नियंत्रण का भी कोई प्रश्न नहीं उठता। मस्तिष्क का आशय बुद्धि से है और कोई भी

बौद्धिक कार्य अमंगलकारी नहीं होता, भले ही व्यक्ति विशेष के लिए हितकर न हो। किन्तु मन से किया गया कार्य अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी। मन चोरी करने की बात सोच सकता है, मन, मनगढ़न्त कल्पना महल बना सकता है, मन में अनाचार की भावना उत्पन्न हो सकती है किन्तु बौद्धिक चेतना इनके दुष्परिणामों की झाँकी प्रस्तुत करते हुए सदैव इनका अवरोध करती रहती है। गीता में भी श्रीकृष्ण भगवान ने 'मन' के नियंत्रण का उपदेश दिया है। अतः यह कहना कि कभी मन मस्तिष्क को नियंत्रित करता है और कभी मस्तिष्क मन को, उचित नहीं। नियंत्रण मन का किया जाता है, बुद्धि का नहीं। बुद्धि को पनपने की सर्वाङ्गीण स्वतंत्रता प्राप्त है जब कि मन को नहीं।

वैसे मन का शरीर से सीधा 'सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। किसी भी इच्छा की पूर्ति दोनों के सहयोग पर ही निर्भर करती है। क्योंकि यदि मन चलचित्र जाने की बात सोच सकता है किन्तु शरीर जब तक मन को चलचित्र-गृह तक नहीं ले जाता तब तक मन अपनी सोची इच्छा की पूर्ति नहीं कर सकता।

हाँ, इतना अवश्य है कि सभी व्यक्ति समान बुद्धि वाले नहीं होते—किसी में बुद्धि की मात्रा कम होती है और किसी में अधिक। अधिक बुद्धि वाला कम बुद्धि वाले को अपने समान ही प्रखर बुद्धि वाला बना सकता है। यथा समय उसे निन्दनीय कार्य करने से बचा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अधिक बुद्धि वाला कम बुद्धि वाले को नियंत्रित कर सकता है। और ऐसा हम अपने दैनिक जीवन में नित्य देखते रहते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या मस्तिष्क द्वारा मन का पूर्ण नियंत्रण हो सकता है या नहीं? जहाँ तक पूर्ण नियंत्रण हो सकने की बात है किया जा सकता है। परन्तु साधारणतया मन पर नियंत्रण हो नहीं पाता है। केवल सिद्धि प्राप्त योगी पुरुष ही मन पर नियंत्रण कर पाते हैं। शेष संसार मन के भुलावे में आकर आजीवन सांसारिकता में फँसा रहता है। आनन्दपथ-गामी मन समस्त इन्द्रियों में अधिक बलशाली है। यह मन ही मोक्ष एवं बन्धन का कारण है। गीता में भी मन को अत्यन्त चञ्चल, द्रुतिगामी, अतीव दृढ़ एवं बलशाली बताया गया है जिसका नियंत्रण वायु के समान ही दुस्साध्य है। भारतीय दर्शन के अनुसार मन को भौतिक रूप दिया गया है और इसे आत्मा की सहायता करने वाली अत्यन्त चञ्चल एवं दृढ़ इन्द्रिय माना गया है। मन ही जय-पराजय का दाता है:— 'मन के हारे हार है मन के जीते जीत'। इसी को वश में कर लेने पर ही मनुष्य शान्ति-पूर्वक अपने अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति कर पाता है। किन्तु इसके तनिक भी अनियंत्रित हो जाने से मानव का सारा जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है और पथ-भ्रष्ट होकर वह नाना विधि के अनैतिक कार्य करने लगता है। गीता में कहा गया है :—

ध्यायतो विषयान्पुंस : सङ्गस्तेषूपजायते
सङ्गात्संजायते काम : कामात्क्रोधोऽभिजायते।
क्रोधात्भवति सम्मोह ; संमोहात्स्मृति विभ्रम :
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।

अर्थात् विषय चिन्तन से व्यक्ति की उनमें आसक्ति हो जाती है और आसक्ति उन विषयों की कामना उत्पन्न करती है और कामना में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न होने से क्रोध उत्पन्न होता है, जिससे कि अविवेक उत्पन्न होता है और अविवेक से स्मृति भ्रमित हो जाती है और स्मृति के भ्रमित होने से बुद्धि नष्ट हो जाती है। और बुद्धिनाश होने से व्यक्ति अपने अभीष्ट साधनों से गिरकर नष्ट हो जाता है। अतः जो पुरुष मन सहित समस्त इन्द्रियों को वश में करके सम्पूर्ण कामनाओं का त्यागकर, माया मोह, स्पृहा रहित सरल जीवन यापन करता है

वह परमशान्ति को प्राप्त होता है। तथा ऐसा व्यक्ति जो कि कूर्म की भाँति ही अपनी समस्त इन्द्रियों को इन्द्रियोचित विषयों से हटा लेता है स्थिर बुद्धि वाला कहा जाता है। इसलिए स्थल-स्थल पर श्रीकृष्ण भगवान ने मन पर नियंत्रण करने का उपदेश दिया है। मस्तिष्क के नियंत्रण का कोई भी उल्लेख गीता में नहीं मिलता। क्योंकि मस्तिष्क मन के भुलावे में कभी नहीं पड़ता जब कि मन भुलावे में शीघ्रातिशीघ्र आ जाता है।

जब किसी भी उद्देश्य के लिए चाहे वह उचित हो अथवा अनुचित, इच्छा प्रबल हो उठती है उस समय उसका नियंत्रण असम्भव सा हो जाता है। यद्यपि बौद्धिक चेतना पग-पग पर व्यक्ति को सत्य मार्ग का प्रदर्शन करती रहती है फिर भी अन्धान्ध मन को अन्धकार ही अन्धकार प्रतीत होता है। चेतना क्षण प्रति क्षण व्यक्ति के निन्दनीय कार्य में अवरोधक बन उपस्थित होती रहती है किन्तु निर्दयी, हठी एवं गुमराह मन उसे धक्के देकर आगे बढ़ता जाता है और मानव को पतन के गर्त में जा गिराता है। जब मन काम, क्रोध, मद, लोभ से वशीभूत होकर बुद्धि पर अपना प्रभुत्व जमाना चाहता है, जिससे संघर्ष हो उठता है और वह अधोगति को प्राप्त होता है। उक्त चारों मनोभावों का वशी मन ज्ञान को आच्छादित कर जीवात्मा को मोहित कर देता है और यह मोहितावस्था ही अनुचित कार्यों की सृष्टि कर बैठती है। शेक्सपियर का नायक 'मैकबेथ' मानसिक एवं बौद्धिक अन्तर्द्वन्द में इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि वह 'किंगडंकन'[1] का 'वध'[2] नहीं करेगा। अतः वह अपनी पत्नी से स्पष्ट कह देता है कि वह इस घृणित व्यापार में अब आगे नहीं बढ़ेगा। ‡ क्योंकि बौद्धिकता उसे पग-पग पर सचेत करती रही कि यह एक अनैतिक कार्य है जिसे उसे कभी नहीं करना चाहिए। दूसरी ओर राज्य प्राप्ति की तथा पत्नी की अपने पति को राजा के रूप में देखने की प्रबल लालसा (Ambition) पति को राजा के मरडर करने की प्रेरणा देती रही। अन्त में उत्कट आकांक्षा की बेसुधता के परिणाम-स्वरूप 'मैकबेथ' 'किङ्ग-डंकन' का वध कर बैठा। अर्थात् कहने का तात्पर्य यह है कि बौद्धिक चेतना कभी भी अहित कार्यों की प्रेरणा नहीं दे सकती। बौद्धिक चेतना के आधार पर ही सद् और असद्, उचित और अनुचित में भेद किया जाता है। तथा इसी बौद्धिकता के द्वारा ही अनुचित कार्य करने की सम्भावना के कारण, मन को नियंत्रित किया जाता है।

कभी-कभी लोग हिन्दी शब्दों की अँग्रेजी भाषा के शब्दों से तुलना कर, अपने को भ्रम में डाल बैठते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि किसी भाषा के शब्द का समानार्थी शब्द दूसरी भाषा में मिले ही। हाँ, उससे मिलता-जुलता शब्द अवश्य मिल जाता है। जहाँ तक मन और मस्तिष्क को अँग्रेजी भाषा के शब्दों से साम्य करने की बात है की जा सकती है। मन का समानार्थी अँग्रेजी शब्द 'Mind' है तथा मस्तिष्क के अर्थ में Brain का प्रयोग किया जाता है। कभी-कभी 'माइन्ड' को मन और मस्तिष्क दोनों अर्थों में प्रयोग किया जाता है। किन्तु हिन्दी में ऐसा नहीं है। मन को मस्तिष्क के अर्थ में नहीं प्रयोग किया जाता और नहीं मस्तिष्क को मन के अर्थ में। भूल से मन मस्तिष्क को एक अर्थ में रखकर प्रयोग करने से उनके अंतर को मिटाया नहीं जा सकता। दोनों शब्दों का अपना अलग-

‡ We shall not proceed further on this bloody business.
—Macbeth—Shakespeare.

(१) राजा का नाम

(२) हत्या

अलग अर्थ है। अशुद्ध प्रयोग से उन्हें नहीं माना जा सकता।

अतः मन, मस्तिष्क और बुद्धि में सही अन्तर समझने के लिए बड़ी ही सतर्कता की आवश्यकता है। प्राचीन काल में मन का विश्लेषण आत्मा के रूप में हुआ करता था। मनोविज्ञान दर्शन का ही एक अंग समझा जाता था। आत्मा के बाद मन का प्रादुर्भाव हुआ किन्तु उसके स्वरूप की उचित व्याख्या न की जा सकी। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने मन के स्वरूप को ठीक से समझा। इनके अनुसार मन हमें वंशानुक्रम से मिलता है। यह एक क्रियाशील गतिवान तत्व है जो जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त बिना रुके क्रियाशील रहता है। मन व्यक्ति का वह अङ्ग है जो अपने अनुभव एवं व्यवहार को सूचित करता है। मन शारीरिक अवयव न होकर आत्मा की भाँति ही अदृश्य है। किन्तु मस्तिष्क कपाल का एक अङ्ग है जो कि बुद्धि को धारण करता है।*[१] मन इच्छाशक्ति द्वारा सृष्टि की कामना उत्पन्न करता है। नानाविधि सांसारिक कार्यों में लीन होने की प्रेरणा देता है, मस्तिष्क अथवा बुद्धि शुद्धाशुद्ध मार्ग का ज्ञान कराती है। वेल्स महोदय के अनुसार बुद्धि वह शक्ति है जो हमारे व्यवहार के अंशों को इस तरह पुनः संगठित करती है कि नई परिस्थितियों में हम अधिक अच्छी तरह काम कर सकें।*[२] बुद्धि भी हमें वंशानुक्रम से मिलती है। यह वह शक्ति है जिससे मनुष्य कठिन से कठिन परिस्थितियों, संकटों एवं समस्याओं का सरलतापूर्वक सामना कर लेता है। यह वह शक्ति है जो कि समय-समय पर जटिल, सूक्ष्म और विस्तृत तत्वों को सुलझाने में सहायता करती है। तथा क्रियाशक्ति वह शक्ति है जिनमें सभी शक्तियों का संगठन होता है और तभी अभीष्ट की प्राप्ति में पूर्ण सफलता मिल पाती है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन्हीं विभिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं। यही तीनों इच्छा, ज्ञान व क्रियाशक्ति से सम्पन्न होकर अपने चन्द्ररूप से सृष्टिकार्य करते हैं, अग्निरूप से संहार करते हैं तथा रविरूप से संसार को आलोकित करते हैं। जब ये तीनों रूप अपनी अपनी व्यक्तिगत सत्ता मिटाकर एक रूप हो जाते हैं उसे ही हम "ब्रह्म" नाम से सम्बोधित करते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है कि मानव जीवन का परम लक्ष्य आनन्द की प्राप्ति कर आनन्दवाद की प्रतिष्ठा करना है और भौतिक आनन्द का चिरस्रोत मन है। परन्तु परमानन्द की प्राप्ति में मन की चञ्चलता के फलस्वरूप विभिन्न प्रकार के संकटों, विघ्नों एवं उलझनों का सामना करना पड़ता है। परमानन्द तो केवल इच्छा, ज्ञान एवं क्रियाशक्ति के समन्वय द्वारा ही सम्भव है और ऐसा आनन्द ही 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की पुष्टि कर सकता है। क्योंकि इन तीनों के समन्वय की स्थिति में ही बुद्धिरूपी अंकुश मन-गज को नियंत्रित करते हुए शुभ कर्मों की प्रेरणा देता रहता है जिन्हें कि क्रियाशक्ति कार्यरूप में परिणत कर देती है। स्पष्ट है नियंत्रण मन का होता है, मस्तिष्क का नहीं। मन मस्तिष्क को नियंत्रित नहीं करता, वह तो स्वयं मस्तिष्क द्वारा नियंत्रित होता है।

---

*Brain is a nervous substance in skull, seat of intellect and and understanding.

*"Intelligence means precisely the power of so recombining our behaviour patterns as to act better in novel situation." Wells.

यज्ञ की महिमा

श्री रामलालजी पहाड़ा

भगवान ने कहा है—"यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म बन्धनः ॥ यज्ञ के अतिरिक्त अन्यत्रकर्म इस लोक में बंधनकारक है। यज्ञ के लिए किया हुआ काम ही मुक्तिदायक है।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेक प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक् ॥

प्रजापति ने यज्ञ के साथ प्रजा उत्पन्न कर कहा—यज्ञ ही तुम्हारे लिए कामधेनु है।

देवान्भावयता नेन ते देवा भवयन्तुवः।
परस्पर भावयन्तः श्रेय परमवाप्स्यथ ॥

परम कल्याण पाने के लिए तुम परस्पर प्रेम करते रहो, तुम देवों को मानो और वे तुमको मानें। यज्ञ द्वारा प्रेम पाने से वे तुमको इष्टभोगों का दान करेंगे। जो मनुष्य उनके दिये हुए भोगों का उपभोग लेता और उनको देता नहीं है वह चोर है। यज्ञ न करने वाला चोर होता है। पुनः कहते हैं—यज्ञ शिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वं किल्विषैः। यज्ञ की बचत को खाने वाला सब पापों से मुक्त हो जाता है। इतना कहकर ब्रह्मचक्र का वर्णन किया है। अन्न से प्राणी, पर्जन्य से अन्न, यज्ञ से पर्जन्य, यज्ञ कर्म से, कर्म ब्रह्म से और ब्रह्म अक्षर तत्व से उत्पन्न हुआ है। इस चक्र में सर्वव्यापक ब्रह्म नित्य यज्ञ में प्रतिष्ठित रहता है।

प्रकृति का कार्य निरन्तर चलता रहता है। इसका अनुवर्तन न करने वाला व्यर्थ जीता है।

ऐसे यज्ञों के रूपकों का अस्तित्व है परन्तु उनसे विशेष लाभ नहीं हुआ है। वह देश के लिए कामधेनु न होकर संतापधेनु हो गया है। देश का द्रव्य इधर-उधर फैलकर निर्बल हो जाता है। उत्पादक शक्ति अनुत्पादक शक्ति में लय हो जाती है। भारतवर्ष में कई यज्ञ हुए और होने की संभावना है। परन्तु भारतवर्ष की कामनाएँ पूरी नहीं हुईं। वे अमर्याद बढ़ गई हैं। भारतवर्ष में लोगों के क्लेश भी कम नहीं हुए हैं। लोगों के कर्म बंधन भी हटे नहीं हैं। मानो देव लुप्त तथा क्रियाहीन हो गये हैं अथवा इतने यज्ञों की पहुँच उनके पास नहीं हुई है।

समाज की गड़बड़ को जान कर चौथे अध्याय में स्पष्ट कह दिया है।

"श्रेयान्द्रव्य मयाद्यज्ञाज्ज्ञान यज्ञः परंतप" द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानयज्ञ अधिक कल्याणकारक है। इसके पहिले महिमा में कहा है। "यज्ञायाचरता कर्म समग्रं प्रविलीयते।" यज्ञ के लिए कर्म का आचरण करने वाले के सब कर्मों का लय हो जाता है, उसके कर्म बन्धनकारक नहीं रहते।

"यज्ञ शिष्टामृत भुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्" यज्ञ के बचे हुए अमृत का उपभोग करने वाला सनातन ब्रह्म को पहुँचता है।

यज्ञ का ठीक रूप जानने के लिए अनेक यज्ञों का उल्लेख किया है जिससे ज्ञानयज्ञ समझ में आ जावे। ब्रह्मयज्ञ करने वाले ब्रह्माग्नि में ब्रह्महवि की आहुति डालते हैं। सब पदार्थों को ब्रह्मदृष्टि से देखते हैं। किसी पदार्थ का दुरुपयोग नहीं करते। दूसरे दैवयज्ञ करने वाले ब्रह्माग्नि में यज्ञ से यज्ञ की आहुति डालते हैं। समाज में—ब्रह्माग्नि में—ज्ञान से ज्ञान बढ़ाते हैं। अन्य जन संयम की साधना करते हैं तथा अन्य जन इन्द्रियों द्वारा विषयों का परिमित सेवन करते हैं। दूसरे इन्द्रिय कर्मों को और प्राण कर्मों को अलग संयम में रखने का अभ्यास करते हैं। इसके अतिरिक्त संशित व्रत वाले मति जन द्रव्य (यज्ञ-सामग्री लेकर) तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याय ज्ञान यज्ञ की साधना करते हैं।

दूसरे आहार को नियत कर प्राणों में प्राण (अन्न) की आहुति डालते हैं। जीवन निर्वाहार्थं ही भोजन करते हैं। ये सब यज्ञविद हैं। यज्ञ से इनके कल्मषों का क्षय हो जाता है। भगवान के आशय को जानकर ठीक यज्ञ करने का ध्येय रखना चाहिए। जीवन-निर्वाह करने की समस्याओं का हल जानने के यज्ञ (विलोम तथा स्वर परिवर्तन से ज्ञेय) ही मुख्य उपाय है।

जप यज्ञ

श्री सरयू नारायण जी अग्निहोत्री, एम० ए०, बी० कॉम०

जिन दिनों मैं उज्जैन में था उन्हीं दिनों साधन समारम्भ का प्रारम्भ हुआ था। मैं स्व० डाक्टर नागर जी के विशेष कृपा पात्रों में था और प्रतिवर्ष साधन समारम्भों में भाग लिया करता था। वहीं पर पं० शिवदत्त जी के दर्शन तथा सतसंग का सुयोग प्राप्त हुआ करता था। वैसे तो कल्पवृक्ष में प्रतिमास पं० जी का लेख प्रकाशित हुआ करता था और वह प्राय: जप के ही सम्बन्ध में हुआ करता था। मैं उसे बड़े ध्यान से पढ़ा करता था और उस पर विचार करता था किन्तु फिर भी अधिक जप किये नहीं होता था। पंडित जी जब साधन समारम्भ में मिलते थे तो उनका यही प्रश्न होता था कि आप जप कितना करते हैं? मैं संकोच के साथ जो उत्तर देता था उससे उन्हें सन्तोष नहीं होता था और वह यही कहा करते थे कि यह जप तो बहुत कम है, कम से कम चार घंटे जप करना चाहिए। समझ में नहीं आता था कि उनकी आज्ञा का पालन कैसे किया जाय क्योंकि न तो समय मिलता था और न अधिक जप में मन ही लगता था।

इधर जब से गीता का स्वाध्याय पालन किया और भगवान के इन शब्दों पर ध्यान गया कि यज्ञनाम् जप यज्ञोऽस्मि तो जप की ओर कुछ विशेष प्रवृत्ति हुई। धीरे-धीरे संसार के कार्य से अवकाश भी मिलता गया और जप में मन भी लगता गया। लगभग दो वर्ष से पंडित जी की आज्ञा का पालन पूर्ण रूप से हो रहा है। इस जप के सम्बन्ध में मुझे जो अनुभव हुआ है उसी को नीचे की पंक्तियों में व्यक्त कर रहा हूँ।

जप यज्ञ कैसे है? मेरी यह धारणा है कि मानव के व्यक्तिगत उत्कर्ष के लिए तप का, मानव समाज के हित के लिए दान का तथा प्राणी मात्र के कल्याण के लिए यज्ञ का विधान हमारे शास्त्रों ने किया है। तो फिर जप यज्ञ से प्राणी मात्र का कल्याण कैसे हो सकता है? जप करने वाला, यदि मन लगा कर जप करता है तो उसकी जो मानस तरंगें वातावरण में व्याप्त होती हैं उनसे संसार में सद्भावना की वृद्धि होती है, इसी प्रकार प्राणी मात्र का कल्याण हो सकता है।

क्या जप और स्मरण में कोई अन्तर है? मेरी समझ में कोई अन्तर नहीं है यदि है तो केवल इतना ही कि स्मरण मन से होता है और जप वाणी से; किन्तु जब जप मानसिक रूप धारण कर लेता है तो जप और स्मरण में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

जप का विधान निर्गुण तथा सगुण दोनों प्रकार की उपासना में है। जप से लौकिक तथा पारलौकिक भोग तथा योग—दोनों प्रकार की सिद्धियाँ सुलभ हैं। ध्रुव जप की कृपा से ध्रुव लोक में अटल राज्य कर रहे हैं। प्रह्लाद को जप के द्वारा संकटों से मुक्ति मिली और भगवत्

भक्ति की प्राप्ति मिली। वालमीकि जप के बदौलत महर्षि और आदि कवि बन गये। यह तो पुरानी बातें हैं। मध्य युग में गोस्वामी तुलसीदास जी ने नाम जप के रस का भलीभाँति आस्वादन किया था। इसीलिए वे डंके की चोट पर यह कह सके थे कि—

भाव कुभाव अनख आलसहू।
नाम जपत मंगल दिशि दसहू॥

चैतन्य महाप्रभु का अविराम कीर्तन भी एक प्रकार का जप ही था। वर्तमान काल में श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी रामतीर्थ, आनन्द आश्रम के स्वामी रामदास तथा माँ आनन्दमयी को जप के द्वारा सिद्धि प्राप्त हुई है।

विधिपूर्वक किया हुआ जप शीघ्र फलदायक होता है। इस सम्बन्ध में एक दोहा है :—

गुप्त अकाम निरन्तर, भाव सहित सानन्द।
आदर युक्त जपते तुरत, पावत परमानन्द॥

अर्थात् जप गुप्त होना चाहिए। एकान्त स्थान में मानसिक जप करने से ही जप में मन लगता है। जप निष्काम होना चाहिए क्योंकि सकाम जप जिस अर्थ सिद्धि के लिए किया जाता है उसकी प्राप्ति तो हो जाती है किन्तु उससे जीवन पर कोई प्रभाव नहीं होता। जप निरन्तर चालू रहना चाहिए। अभ्यास से वार्तालाप करते हुए, पढ़ते हुए अथवा स्वप्न दशा में भी मानसिक जप चालू रहता है। निरन्तर जप से प्रपञ्च चिन्तन छूट जाता है और मन अपने इष्टदेव के प्रेम में विभोर हो जाता है और फिर उस समय आनन्द की वृत्ति स्वयं जागृत हो जाती है और अपने इष्टदेव के प्रति आदर का भाव उत्पन्न हो जाता है। भगवान के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है और उनकी कृपा प्राप्त हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि मन संयत और एकाग्र हो जाता है और धीरे-धीरे अहंभाव तिरोहित होने लगता है। आत्म निवेदन की अवस्था प्राप्त हो जाती है और जापक कृतार्थ हो जाता है।

एक बात और है। क्या जप के लिए माला आवश्यक है? जप की प्रारम्भिक अवस्था में स्वामी शिवानन्द जी के शब्दों में माला कोड़े का काम करती है।

माला से मन एकाग्र हो जाता है और निश्चित संख्या में जप करते-करते अधिक समय तक जप करने में मन लगने लगता है किन्तु जप की प्रौढ़ावस्था में माला अपने आप छूट जाती है, जप जापक और इष्टदेव की त्रिपुटी समाप्त हो जाती है। जप ध्यान में परिणत हो जाता है और ध्यान समाप्त हो जाता है।

प्रकृति और पुरुष

श्री माताजी पांडीचेरी

प्रकृति एक जड़ सक्रिय शक्ति है, क्योंकि वह एक ऐसी क्रिया करती है जो उस पर लादी गई है किन्तु उसके अन्दर वह एकमेव पुरुषोत्तम उपस्थित है जो सब कुछ जानता है ··············· शरीर के अन्दर वैयक्तिक आत्मा या चेतन सत्ता इस अनुभवकर्ता 'पुरुष' के साथ अथवा सक्रिय प्रकृति के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर सकती है। यदि यह सक्रिय प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेती है तो यह स्वामिनी उपभोक्त्री अथवा ज्ञात्री नहीं रहती।"

(श्रीअरविन्द)

यदि प्रकृति वही कुछ करती है जो उस पर लादा जाता है तो ये सब विकृतियाँ क्यों देखने में आती हैं ?

यह गीता का सिद्धान्त है समग्र सत्य नहीं।

मैंने इसके विषय में फ्रांस में सुना था। गीता की व्याख्या करते हुए ये लोग कहते हैं "धुँए के बिना अग्नि नहीं होती"--जो कि सत्य नहीं है। इससे आगे वे कहते हैं, "जीवन ऐसा ही है और इसे तुम बदल नहीं सकते। तुम केवल इतना ही कर सकते हो कि पुरुष की स्थिति में पहुँचकर शासित शक्ति के स्थान पर शासक शक्ति बन जाओ।" किन्तु जैसा कि श्रीअरविन्द कहते हैं, यह गीता का सिद्धांत है, समग्र सत्य नहीं। यह वस्तुओं को देखने का केवल एक आंशिक ढंग है—यह उपयोगी, व्यावहारिक सुविधाजनक होता है, पर पूर्णतया सत्य नहीं।

तब श्रीअरविन्द के शिष्य संसार की मुक्ति के लिए गीता के सन्देश का क्यों प्रचार करते हैं ?

यह उनकी अपनी बात है। यदि इससे वे प्रसन्न होते हैं तो होने दो।

तो क्या इसका श्रीअरविन्द के योग के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है ?

तुम यह नहीं कह सकते कि इसका संबंध नहीं है। किंतु यह केवल संकीर्णता है, और कुछ नहीं। इन्होंने एक कोना पकड़ लिया है और उसी को समग्र मान लिया है। किन्तु ऐसा सभी के साथ होता है। मैं जानना चाहती हूँ कि 'समग्र' को कौन पकड़ सकता है ? सभी एक कोने को लेकर उसे 'समग्र' मान लेते हैं।

किन्तु श्रीअरविन्द ने व्याख्या की है·········

ओह ! तुम तो एक सिद्धान्त के प्रचारक हो। तुम उन्हें यह निश्चय क्यों कराना चाहते हो ? यदि वे इसी प्रकार संतुष्ट हैं, तो उन्हें वहीं अपनी तुष्टि में छोड़ दो। यदि वे तुम्हारे पास आकर कहें "यह श्रीअरविन्द का सिद्धांत है" तो तुम्हें यह कहने का अवश्य अधिकार है "न, यह ठीक नहीं है, यह तो एक परंपरा का सिद्धांत है, श्रीअरविन्द का नहीं।" बस इतना ही। तुम उन्हें यह नहीं कह सकते, "तुम्हें बदलना चाहिए।" यदि वे इसी से संतुष्ट हैं तो उन्हें यही मानने दो।

यह एक बहुत सुविधाजनक सिद्धांत है। भारत आने से पहले मैंने फ्रांस में, पेरिस में यह देखा कि यह किस हद तक व्यवहार में आ सकता है। सबसे पहले तो यह तुम्हें एक बड़े गहन और अत्यधिक उपयोगी सत्य को जानने में सहायता पहुँचाता है और साथ यह तुम्हें अपनी बाह्य प्रकृति को बदलने की समस्त आवश्यकता से दूर भी रखता है।

कितना सुविधाजनक है यह ? है न ? तुम कहते हो, मैं ऐसा ही हूँ, मैं इसमें क्या कर सकता हूँ ? मैं अपने आपको 'प्रकृति' से अलग कर लेता हूँ। मैं इसे अपनी इच्छानुसार

कार्य करने के लिए छोड़ देता हूँ, मैं यह 'प्रकृति' नहीं हूँ मैं पुरुष हूँ ! इसे अपने रास्ते चलने दो, मैं इसे बदल तो सकता नहीं। ऐसे लोग भी हैं जो श्रीअरविन्द की पुस्तकें पढ़ने के बाद भी इसी सिद्धांत को मानते हैं। वे इसी को पकड़कर इससे चिपटे रहते हैं क्योंकि यह उनके लिए सुविधाजनक है। तुम्हें अपने स्वभाव को बदलने के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता, तुम इसे अपरिवर्तनीय मान लेते हो। तुम अपने ऊँचे बुर्ज पर बैठे इसे इसकी इच्छानुसार चलने की अनुमति देते रहते हो और कहते हो, "यह मैं नहीं हूँ, मैं वह नहीं हूँ।" यह अत्यन्त सुविधाजनक है। तभी लोग इस सिद्धांत को पकड़ लेते हैं, क्योंकि वे सोचते हैं कि वे 'पुरुष' हैं। किन्तु जरा सी खरोंच लगते ही वे सीधे वापिस प्रकृति में जा गिरते हैं। या तो वे अत्यधिक क्रोधित और निराश हो जाते हैं या फिर बीमार पड़ जाते हैं।

मैंने एक ऐसे आदमी के विषय में सुना है जिसने पुरुष के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लिया था और जिसका अद्भुत वायुमंडल था। पर यह उन लोगों को जो पार्थिव 'प्रकृति' की किसी भी वस्तु को बदलने की इच्छा रखते थे, भयानक विद्रोहियों की संज्ञा देता था, उन सब लोगों को जो पृथ्वी पर की वस्तुओं का परिवर्तन चाहते थे, उदाहरणार्थ दुःख--कष्ट दूर हो जायँ और अंत में मृत्यु की अनिवार्यता भी समाप्त हो जाय या एक विकास, एक ऐसा ज्योतिर्मय विकास साधित हो जाय जिसमें नाश की कोई सम्भावना न रहे। हाँ, जो लोग इस प्रकार सोचते हैं वे भयानक विद्रोही हैं। यदि जरूरत पड़े तो उन्हें जेल में भी बन्द कर देना चाहिए।

यदि तुम एक बुद्धिमान् व्यक्ति बनना चाहते हो—यहाँ एक बड़े योगी बनने का तो प्रश्न ही नहीं उठता—तुम्हें ऐसी वस्तुओं की ओर मुस्करा भर देना चाहिए, उन्हें तुम्हें स्पर्श करने की अनुमति नहीं देनी चाहिए, तुम्हारा अपना अनुभव तुम्हारे साथ है, उसे ही तुम यथा संभव अधिक से अधिक सच्चा और पूर्ण बनाने का प्रयत्न करो, किंतु प्रत्येक को अपने अनुभव पर छोड़ दो।

हाँ, यदि वे स्वयं ही तुम्हारे पास आकर तुम्हें 'गुरु' मानें और तुमसे यह कहें, "अब मुझे तुम 'प्रकाश' और 'सत्य' की ओर ले चलो," तो तब से तुम्हारी जिम्मेदारी शुरू होती है—पहले नहीं।

तो क्या दूसरों को नया सत्य दिखाने और उसमें उनका विश्वास उत्पन्न करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए ?

यदि तुम इस विचार को स्वीकार कर लेते हो कि जगत् भगवान् की उसकी समस्त जटिलता में अभिव्यक्ति है, तो जटिलता और विभिन्नता की अनिवार्यता को स्वीकार करना ही पड़ेगा और तब तुम्हारे लिए दूसरों को विश्वास दिलाना और अपने समान ही उन्हें सोचने और अनुभव करने को विवश करना असंभव हो जाता है।

प्रत्येक का सोचने, अनुभव करने और प्रतिक्रिया करने का अपना ढंग होता है, तुम्हें यह माँग करने का क्या अधिकार है कि दूसरे भी तुम्हारी ही भाँति कार्य करें या तुम्हारी ही तरह हो जायें। यह मान भी लो कि तुम्हारा सत्य सब से बड़ा है। यद्यपि इस शब्द का कुछ अर्थ नहीं है—ये सब सत्य आंशिक हैं। किन्तु ये सच्चे इसलिए हैं क्योंकि ये सत्य हैं। पर जिस क्षण तुम यह समझने लगते हो कि तुम्हारा सत्य तुम्हारे पड़ोसी के सत्य से बड़ा है, तुम सत्य के मार्ग से विचलित होने लगते हो।

दूसरों को अपनी ही तरह सोचने के लिए विवश करने की यह आदत मुझे सदा स्वेच्छाचारिता प्रतीत होती है। मैं इसे एक 'प्रचारक' की प्रवृत्ति कहती हूँ और यह तुम्हें बहुत दूर

तक ले जाती है और फिर तुम एक पग और आगे बढ़कर यह चाहने लगते हो कि लोग वैसा ही करें जैसा तुम करते हो, वैसा ही अनुभव करें जैसा तुम अनुभव करते हो और यह एक भयानक 'एकरसता' हो जाती है।

जो भी हो, मैं तुम्हें इस बात का निश्चय दिला सकती हूँ कि एक ऐसा समय आता है जब कि व्यक्ति दूसरों को अपने सोचे हुए सत्य का विश्वास दिलाने की बिलकुल आवश्यकता नहीं समझता।

प्रभुमय जीवन

ज्ञान और प्रतिभा

श्री श्रीलालजी पण्ड्या

यदि आप भी इस सर्वोच्च एवं सम्पूर्ण तथा विशाल जीवन का अनुभव करना चाहते हों; तो इस भ्रमपूर्ण धारणा को एकदम हृदय से निकाल दीजिए कि "दिव्य परमात्म चैतन्य से आपका आत्म चैतन्य भिन्न है।" और तत्काल उसके साथ अपना अभेद होने के विचार को दृढ़ करने लगिए। इस प्रकार जितने ही अधिक आप इस विचार से संलग्न रहेंगे, उतने ही अंश में आपको उसका अधिकाधिक परिचय होता चला जायगा। और तब जैसे-जैसे उसके अनुरूप जीवन बिताते जाएँगे; त्यों-त्यों समस्त हितकारी वस्तुएँ आपकी ओर आकर्षित होने लगेंगी और आपको जो कुछ करना होगा उसे बिना किसी भय अथवा संकोच के कर सकेंगे। इसी प्रकार कल के लिए आज ही से चिन्ता आरम्भ न करके उसका विचार कल पर ही छोड़ सकेंगे। क्योंकि आपको पूर्ण विश्वास हो जायगा कि जिस शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक भोजन की आवश्यकता होगी, वह तो कल प्राप्त हो ही जायगा। इसीलिए "आगामी कल तक के लिए आपको उसकी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है।

जो मनुष्य उपर्युक्त सत्य-सिद्धान्त पर विश्वास रखता है, उसे यह धारणा कभी धोखा नहीं देती। किन्तु अधिकांश व्यक्ति अनिश्चित डगमगाती श्रद्धा रखते हैं, इसी कारण परिणाम भी अनिश्चित और असंतोषकारक ही होता है। क्योंकि परमात्मा से अधिक सत्य, अधिक श्रेष्ठ और विश्वासपात्र वस्तु इस समग्र संसार में दूसरी नहीं हो सकती। इसलिए जो कोई सर्वभाव या संपूर्ण रूप से उसकी शरण में चला जाता है, उसे कभी हानि हो ही नहीं सकती। क्योंकि वह तो स्वयं ही उसे अपना सर्वस्व सौंपने और उसे अपने बराबर का बनाने के लिए सर्वदा आतुर रहता है। इसलिए प्रत्येक काम करते हुए और प्रत्येक स्थिति में, दिन या रात में, सोते या जगते हुए मनुष्य को अपने और परमात्मा के बीच अभेद भाव का स्मरण रखकर तदनुसार ही जीवन बिताना उचित है। जीवन का महनतम रहस्य और श्रेष्ठ फल इसी में समाया हुआ है। किंतु केवल जाग्रतावस्था में ही इसका अभ्यास किया जा सकता हो, सो बात नहीं है, सोते हुए भी वह किया जा सकता है। इसी लिए इस स्थान पर निद्रा के विषय में कुछ बातों का विचार कर लेना उचित होगा जिससे कि उस अवस्था में भी हम ज्ञान और प्रकाश प्राप्त कर सकें।

निद्रा के समय स्थूल शरीर विश्राम लेता है; किन्तु सूक्ष्म शरीर तो बराबर कर्म करता ही रहता है। अर्थात् जाग्रतावस्था में शरीर की जो

क्षति होती है, उसकी पूर्ति कर शरीर को नवजीवन प्रदान करने की क्रिया निद्रा द्वारा संपन्न होती है। किन्तु फिर भी यदि जागरण किये जायँ और दिन भर में हुई शरीर की क्षीणता को निद्रा द्वारा पूर्ण न किया जाय; तो शरीर धीरे-धीरे क्षीण और निर्बल होता जाकर रोगों का घर सहज ही में बन सकता है।

किन्तु आज हम शरीर का जो उपयोग कर रहे हैं, उससे कहीं अधिक और उत्तम उपयोग करने के लिए यह हमें प्राप्त हुआ है। और हम इसका अधिक उत्तम उपयोग करना नहीं जानते इसी कारण शरीर हमारा सेवक न रहकर स्वामी बन गया है। ऐसी दशा में ज्यों-ज्यों हमें अपनी उच्च शक्तियों का भान होता जाता है, त्यों-त्यों यह उलटी अवस्था बदलती जाती है—अर्थात् जब हमारी उच्च शक्तियाँ इस जड़ शरीर पर अधिकार करने लगती हैं और शरीर में घुसे हुए शुद्ध परमाणु नष्ट होने लगते हैं; तो शरीर अधिक शुद्ध और भव्य बनता है, और इससे हमारे अंतःकरण और आचरण में उच्च सिद्धान्त अधिक गहरे उतरकर अलौकिक आनन्द और दिव्य अनुभव कराने लगते हैं। उस दशा में खान-पान, एवं मान-बड़ाई और अन्य उपभोगों की आसक्ति कम होती जाती है। साथ ही अब तक जो राजस् या तामस् खान-पान एवं पदार्थों का उपभोग होता रहता था, वह भी छूटता जाकर शरीर-रक्षा मात्र के लिए पोषण योग्य एवं मस्तिष्क को शान्त रखने वाला सात्विक भोजन पाने की इच्छा रहती है। इस प्रकार हमारा शरीर अधिक सात्विक और सूक्ष्म परमाणुओं वाला बन जाने के कारण श्रम से उसमें अल्प क्षीणता आती है और जो क्षति पहुँचती है, उसकी पूर्ति भी शीघ्रता से होकर मन और शरीर बहुत नियमित और समतोल दशा में रहते हैं। ऐसी हालत होने से हमें निद्रा की भी कम ही आवश्यकता रहती है। और वह कम निद्रा भी हमारे शुद्ध और सूक्ष्म परमाणुओं से भरे हुए शरीर के लिए अत्यन्त लाभकारक सिद्ध होती है।

इस प्रकार शरीर ज्यों-ज्यों अधिक सूक्ष्म और शुद्ध होता जाता है, त्यों-त्यों वह जीवात्मा को उच्च स्थिति में पहुँचाने में विशेष सहायक होता है। कवि ब्राउनिंग ने इसी बात को लक्ष्य करके कहा है कि "समस्त अच्छी वस्तुएँ हमारी ही हैं; क्योंकि जिस प्रकार शुद्ध जीवात्मा शरीर की सहायता करता है, उसी प्रकार शुद्ध शरीर भी जीवात्मा की सहायता कर सकता है।"

इस विवेचन पर से प्रत्येक मनुष्य भली-भाँति समझ सकता है कि शरीर को विश्राम देने और पहुँची हुई क्षीणता पूरी करने के लिए निद्रा परमावश्यक वस्तु है। किन्तु अन्तरात्मा को किसी प्रकार के विश्राम की आवश्यकता न होने से शरीर के निद्रित रहने पर भी वह अपना कार्य बराबर करती ही रहती है।

अन्तरात्मा की इस कार्य तत्परता का गहरा ज्ञान रखने वाले मनुष्य बतलाते हैं कि इसके सहारे, यदि हम निश्चय कर लें तो नींद में भी यात्रा कर सकते हैं। कई मनुष्य तो निद्रावस्था (स्वप्न) में देखे हुए दृश्य, और प्राप्त जानकारी एवं घटित घटनाओं को जाग्रत होने पर अपने स्थूल मस्तिष्क में लाने की भी शक्ति रखते हैं। किन्तु अधिकांश व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकते और कई तो जाग्रत अवस्था का भी ज्ञान खो बैठते हैं। इस विषय के अनुभवी पुरुष बतलाते हैं कि, यदि इस विषय के नियमों को भली-भाँति समझ लिया जाय तो हम स्वेच्छानुसार जहाँ चाहें जा सकते हैं और अपने अनुभवों का भान भी जाग्रत अवस्था में अपने स्थूल मस्तिष्क में ला सकते हैं। यह जैसे भी होता हो किन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि साधारण मनुष्यों को निद्रा के समय जो प्रकाश, ज्ञान और बोध प्राप्त नहीं हो सकते वे इसके अभ्यासियों को हो जाते हैं।

कई मनुष्यों ने इस प्रकार का लाभ प्राप्त भी किया है, और अनेक बार अन्तरात्मा का उच्च सन्देश भी इसी रूप में प्राप्त हो जाता है। किन्तु ऐसा होने में अस्वाभाविकता कुछ भी नहीं है। क्योंकि बाह्य जगत् के साथ का सम्बन्ध निद्रा के समय न रह सकने से उस दशा में अन्तर जगत् का स्फुरण प्राप्त होने की विशेष संभावना रहती है। मेरे कुछ मित्र इस प्रकार निद्रावस्था में भी बहुत कुछ काम कर सकते हैं और उन्हें अपने इष्टविषय में बहुत कुछ प्रकाश प्राप्त हो सकता है।

इस बात का अनुभव तो अनेक मनुष्यों को होता ही है, सोती बार अमुक समय उठने का दृढ़ निश्चय करने से, उसी समय नींद खुल जाती है। एक महिला किसी समाचार-पत्र की उप-संपादिका थी। उसे एक बार पत्र-संपादक ने अमुक विषय पर लेख लिखकर सुबह तक तैयार रखने के लिए कहा। विषय अत्यन्त गहन था और उसमें अनेक बातों के ज्ञान की आवश्यकता थी; किंतु उस विषय में उस महिला को ज्ञान अधूरा होने से, तद्विषयक पुस्तकें पढ़कर आवश्यक जानकारी प्राप्त करने जितना समय उसके पास नहीं था। इस कारण वह महिला रात में लेख लिखने बैठी, किंतु उसकी कलम न चल सकी। बिना विचार के कलम चलती भी कैसे ? अस्तु, उसे अपने प्रयत्न में असफलता ही दिखाई देने लगी; अतएव थककर उसने सोने का विचार किया और उस विषय में उसे जो कुछ जानकारी थी उसी पर विचार करते हुए निद्रा में विशेष जानकारी प्राप्त करने की भावना दृढ़ करके वह सो गई। अगले दिन प्रातःकाल होते ही उसे अपने विषय का स्मरण हुआ। फिर भी वह कुछ क्षण शांत रही। उस समय उसे ऐसा प्रतीत हुआ, मानो उस विषय का लेख लिखा हुआ उसके सामने तैयार रक्खा है। अतः अपनी मानसिक शक्ति द्वारा वह उस लेख को पढ़ गई और बिस्तर से उठकर बिना कपड़े बदले ही उसने वह लेख लिख डाला। उसने वह लेख इस प्रकार लिख कर तैयार कर दिया मानो कोई लिखा रहा है और वह लिख रही है।

जब किसी विषय में मन तल्लीन हो जाता है, उस समय यदि उसे अन्य किसी विषय का विचार करने की आवश्यकता न पड़े तो वह निरंतर अपने उसी एक विषय का विचार करता रहता है। इसी प्रकार नींद में भी जब कि उसका शरीर और मस्तिष्क शांत होगा; तब भी मन और अंतरात्मा काम करते रहने के कारण यदि सोते समय मन को अमुक प्रकार की प्रेरणा दी जाय; तो निद्रित दशा में भी वह उसी का विचार करता रहेगा; और प्रातःकाल अपने अनुभवों की छाप स्थूल मस्तिष्क पर जमाये बिना नहीं रहेगा। कई मनुष्यों के मस्तिष्क पर यह छाप बड़ी शीघ्रता से पड़ती है, और कई को दीर्घकाल में इस विषय में विजय प्राप्त होती है, शांति-पूर्वक सतत प्रयास करने से यह शक्ति अवश्य प्राप्त होती है।

मन निरन्तर काम करता रहता है, साथ ही जैसा कि पहले बताया जा चुका है, अपने समान विचारों को आकर्षित करने की शक्ति भी उसमें होने के कारण सोने के पहले जैसे भी विचारों की ओर उसे झुकाया जायगा, उसी प्रकार के विचार वह नींद में अपनी ओर आकर्षित करता रहेगा। इस पर से हम अपने आपको जिस किसी दशा में लाना चाहते हों, उसमें अवश्य ला सकते हैं, और नींद में भी उसके सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

जाग्रत अवस्था की अपेक्षा नींद में हमारी आंतर शक्तियां प्रकाश प्राप्त करने के लिए विशेषरूप से अनुकूल होती हैं। इसलिए सोने से कुछ समय पहले हमें अपने विचारों के भले-बुरे स्वरूप के सम्बन्ध में बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है, और यह बात हमारे अपने ही हाथ में होती है। यदि हम इस विषय के नियमों को समझ कर तदनुसार बरतें तो जाग्रत अवस्था

से भी अधिक लाभ उस निद्रितावस्था में अवश्य प्राप्त कर सकते हैं।

इस विषय के अभ्यासियों ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं :—

"अमुक विषय में प्रकाश या जानकारी प्राप्त करने की इच्छा आपको हो या दो में से किसी एक मार्ग को पसन्द करने का निर्णय न हो पाता हो—तो प्रथमतः आप सोने से पूर्व प्राणिमात्र के प्रति शुभेच्छा और प्रेम की भावना से अपने मन को परिपूर्ण कर दीजिए क्योंकि इससे आप अपने मन को शांत बना सकेंगे और बाहर से भी शांतिपूर्ण स्थिति ही आपकी ओर आकर्षित होगी।

इस प्रकार शांतावस्था में पहुँच जाने के बाद उस विषय के निर्णय या ज्ञान की प्राप्ति के लिए अव्यग्र और शांत चित्त से दृढ़ इच्छा प्रकट कीजिए। अर्थात् इस बात की शङ्का को अपने चित्त से एकदम दूर कर दीजिए कि हमें उसमें सफलता प्राप्त होगी या नहीं, (क्योंकि शांति और श्रद्धा में ही आपकी शक्ति केन्द्रित होती है।) और दृढ़तापूर्वक मान लीजिए कि जाग्रत होने पर आप अपनी इच्छित जानकारी अथवा प्रकाश को अवश्य प्राप्त कर सकेंगे। इसके बाद निद्रा में से जागने पर बाह्य जगत की प्रवृत्तियों की ओर आपका मन आकर्षित होने के पहले ही आपकी अंतरात्मा आपके मस्तिष्क पर जो छाप जमावे, उसे ग्रहण करने की स्थिति में कुछ देर आप पड़े रहिए; और जैसे ही उचित निर्णय या ज्ञान प्राप्त हो, अविलंब उसके अनुसार चलने के लिए तत्पर हो जाइए। जितने ही अंश में आप अंतरात्मा की इस वाणी का सम्मान कर तदनुसार आचरण करने लगेंगे, उतने ही परिमाण में वह भी आपको अधिकाधिक शक्ति से प्रकाश प्रदान करती रहेगी।

एक मनोवैज्ञानिक रहस्य

मैं स्वीकार करता हूँ : मैं स्वीकार नहीं करता !

डॉ० रामचरण महेन्द्र, एम० ए०, पी-एच० डी०

"आप कुछ दुबले-पतले दीखते हैं। पहले की अपेक्षा आप कुछ कमजोर हो गये हैं। क्या बात है, क्या कुछ बीमार हो गये थे ?"

आप से यह प्रश्न पूछा जाता है, तो आपके मुख से अनायास ही निकल जाता है, "जी हाँ, तबियत कुछ ऐसी ही रही।"

जब कि सच्ची बात यह है कि न आप बीमार रहे हैं, और न दुबले ही हुए हैं। आप ज्यों के त्यों हैं। आपके स्वास्थ्य में कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ है। यदि आपको तोला जाय, तो आपका बोझ भी उतना ही है, जितना पहले था। शक्ल-सूरत में भी कुछ अन्तर नहीं है। और आप पिछले दिनों बिल्कुल ठीक रहे हैं।

इसी प्रकार लोग प्रेमवश या आपको प्रसन्न करने के उद्देश्य से अनेक गलत और दिखावे की बातें कहा करते हैं। कोई कहता है, "आप कुछ दुःखी से दीखते हैं।" अथवा "आज क्या बात है कुछ चिन्तित नजर आते हैं ? घर पर खटपट हुई है। कुछ ग़मी हो गई है। कोई रोग है। व्याधि है। कोई चिन्ता है ? या व्यापार में हानि है ? हाल बेहाल है। क्या बात है ?"

आपके इष्टमित्र तरह तरह की अशुभ बातें और गलत संकेत आपके सामने उच्चारण करते हैं। वे महज़ औपचारिकता की बातें ही करना चाहते हैं। उनका कोई छिपा हुआ सच्चा मतलब या हित नहीं होता। वे केवल दिखावा मात्र करना चाहते हैं।

इस प्रकार के अनेक अशुभ संकेत या बुरे संस्कार भिन्न-भिन्न शब्दों में हमारे दैनिक जीवन में दुहराये जाते हैं और हम उन्हें स्वीकार कर लेते हैं।

वास्तव में जब हम यह कहना चाहते हैं कि हम बीमार नहीं हैं। अशक्त नहीं हैं। घर पर सब कुछ ठीक है। कोई कष्ट, पीड़ा, वेदना या दुःख नहीं है! व्यापार ठीक-ठाक चल रहा है। कोई हानि नहीं हो रही है। तबियत भी ठीक चल रही है। फिक्र की कोई बात नहीं है।

लेकिन दूसरों के संवेदना-सूचक निर्देशों के सामने हम चुपचाप रह जाते हैं और दूसरे शब्दों में उन्हें स्वीकार कर लेते हैं।

गलत या अनर्थकारी संकेतों, निर्देशों या कहे हुए वचनों को स्वीकार कर लेना उन बातों को मन में स्थान देना है, विष बीज बोना है। इन गलत अनुपयोगी विचारों को मन में रखने से आगे चलकर वे विषवृक्ष का रूप धारण कर लेते हैं। व्यक्तित्व के विकास में अड़चन उत्पन्न करते हैं।

उत्तम यह है कि आदमी यह समझ ले कि किस बात को स्वीकार करना चाहिए? स्वीकृति (Affirmation) तथा अस्वीकृति (Denial) मनुष्य के गुप्त मन की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है।

किसी विशेष तथ्य, संकल्प या विचार को दृढ़तापूर्वक स्वीकार करना उस गुण या विचार को अपने चरित्र में विकसित करना है। मानसिक जगत् का यह स्वभाव है कि पुनरावृत्ति से उस गुण विशेष में हमारा विश्वास बढ़ता है। भली बात को स्वीकार करने (Affirm) तथा अशुभ बात को अस्वीकार करने (Deny) करने से मानसिक विकास होता है। जो बात आप बुरी समझते हैं या जो आपकी निर्बलताएँ या कमजोरियाँ हैं, उन्हें दृढ़तापूर्वक अस्वीकार करने से वह कमजोरी दूर हो जाती है।

किसी विचार या संकेत को बार-बार दुहराने से उस विचार या संकेत में आपका विश्वास बढ़ता है और शुभ संकेतों से आत्मा जाग्रत होती है।

जब नए शुभ, स्वास्थ्यप्रद उपयोगी संकेत दुहराये जाते हैं, तो धीरे-धीरे मनुष्य का गुप्त मन उन्हें स्वीकार कर लेता है। वे भाव हमारे मानसिक जगत का एक हिस्सा बन जाते हैं। गुप्त आध्यात्मिक शक्तियों को विकसित करने तथा पाशविक शक्तियों की उपेक्षा करने के लिए स्वीकृति और अस्वीकृति की पद्धत्ति मनोविज्ञान शास्त्र में बिल्कुल नवीन है।

स्वीकार कीजिए

हमारा सुझाव है कि आप अपने गुप्त मन में यह बात स्वीकार कीजिए कि आप ईश्वर के पुत्र हैं। ईश्वर के पुत्र होने के नाते आप उन सभी दैवी समृद्धियों के मालिक हैं, जिनका अस्तित्व परमेश्वर में है। परमेश्वर में सभी उच्चकोटि के गुण हैं। इसलिए आपकी आत्मा में बीज रूप में वे सब गुण विद्यमान हैं। आप में वे सब उच्चताएँ, ऋद्धियें छिपी पड़ी हैं। आपकी शक्ति अनेक वज्रों से अधिक है। आपको साधारण सांसारिक घात-प्रतिघात कुछ भी हानि नहीं पहुँचा सकते।

स्वीकार कीजिए कि आप पूर्ण स्वस्थ हैं। आपको कोई शारीरिक या मानसिक विकार नहीं है। आप शान्त हैं। स्थिर हैं। शोक, दुःख और व्याधि से दूर हैं। समृद्धिशाली हैं। दैवी सम्पन्नता से युक्त हैं। आपकी आत्मा दैवी विभूतियों से परिपूर्ण है।

स्वीकार कीजिए कि आप कभी विषम परिस्थिति में घबराते नहीं हैं। आपके मन में उद्वेग नहीं उठता। आप अस्त-व्यस्त नहीं होते। विरोध को बड़ी सफलता से सँभाल लेते हैं। आप सौंपी हुई जिम्मेदारी को बड़ी कुशलता से निभाते हैं।

स्वीकार कीजिए कि आप शरीर नहीं आत्मा हैं। आपके भीतर महान् आत्मा का निवास है। आप अमर हैं। आपको कोई समय से पूर्व नष्ट नहीं कर सकता। सत् पथ से कोई विचलित नहीं कर सकता।

स्वीकार कीजिए कि आप अकेले नहीं हैं। आपके साथ सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक ईश्वर है। जब आप चलते-फिरते श्वास-प्रश्वास लेते अथवा सोते हैं, तब भी परम प्रभु का आपके साथ संग होता है। आपका परम पिता आपको जीवन दान दे रहा है।

स्वीकार कीजिए कि आप मन वचन कर्म से पवित्र हैं। आपका सम्बन्ध पवित्रता से है। हर प्रकार की शुद्धता आप में मौजूद है। आप निर्विकार हैं। ईश्वर आप से बहुत उपयोगी कार्य लेना चाहता है।

अस्वीकार कीजिए

आप यह मत मानिए कि आप कमजोर हैं। या आपका सम्बन्ध बुराई से है। दुर्बलता, संशय, सन्देह, चिन्ता या फिक्र से आपका कोई सरोकार नहीं है।

आप यह अस्वीकार कीजिए कि आपके ऊपर कोई अमंगल ग्रह आ रहा है। निन्दा, राग द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह का आप पर कोई अधिकार नहीं है।

आप अस्वीकार कीजिए कि आप निर्बल या तामसिक राक्षसी प्रवृत्ति के हैं। प्रतिकूलताएँ आपका कुछ नहीं बिगाड़ सकतीं।

आप अपने को कमजोर सोचेंगे, तो सचमुच कमजोर बन जायँगे। असत् विचार पीड़ा उत्पन्न करते हैं। बीमारी की स्वीकृति रोग और व्याधि पैदा करते हैं।

सत् विचार सुख, हर्ष और कल्याण देने वाले हैं। उन्हें ही स्वीकार कीजिए।

"यदा वै मनुतेऽथे विजानाति" (छा० उ० ७-१८-१)

अर्थात् जब मनुष्य सद्विचार करता है, तभी ज्ञानी बनता है। अर्थात् विचारशील ही ज्ञानी बन सकता है।

"अलं वैक्लव्यमालाम्ब्य धैर्यमात्मगतं स्मर।"

अर्थात् हे मानव ! दीनता को मत स्वीकार कर। तेरे भीतर जो धैर्य है, उसका ध्यान कर।

"भैषज्यमेतत् दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत्।
शां० प० २०३-२

अर्थात् दुःख से मुक्ति की अचूक दवा यह है कि मनुष्य दुःख का चिन्तन या स्वीकृति ही न करे।

"अधर्मस्त्रिविधस्तात वर्तते रोग दोषतः।
पापं चिन्तयते चैव ब्रवीति च करोति च॥"

राग (आसक्ति) के दोष से तीन प्रकार का पाप उत्पन्न होता है (१) मनुष्य पाप का चिन्तन करता है (२) वह पाप बोलता है (पाप को स्वीकार कर लेता है) (३) पाप का ही आचरण करता है।

आप जो कुछ बुरे विचार या संकेत स्वीकार करते हैं, वे ही आपके मानसिक संस्थान को बनाते हैं। आप कोई ऐसा विचार मत स्वीकार कीजिए जिससे परमेश्वर के सम्मुख आपको लज्जित होना पड़े। आपको नीचा देखना पड़े।

पूजा और उपासना की अनेक विधियाँ हैं। लेकिन भव्य विचारों को स्वीकार कर उन्हें गुप्त मन में जमाना सबसे बड़ी उपासना है।

मैं कर्त्ता नहीं हूँ

श्री दुर्गाशंकरजी व्यास

मनुष्य कर्मों के बन्धन से जकड़ा हुआ है। कर्मों के प्रभाव से हम छूट नहीं सकते। जन्म से लेकर मरण-प्रयन्त हम हर घड़ी, हर समय, कोई न कोई कर्म करते ही रहते हैं। दो कदम चलना भी तो कर्म है। दो बातें करना भी कर्म के अन्तर्गत ही आता है। कुछ सोचना भी एक कर्म होता है। अच्छी तरफ जाना, अच्छी बातें करना, अच्छा-सा कुछ सोचना, शुभ कर्म कहलाता है। और इसके विपरीत काम करना दुष्कर्म कहा जाता है। कर्मों की प्रतिक्रिया न होने पाए, ऐसी बात कभी नहीं देखी गई है। हाँ! यह बात अलग है कि किसी कर्म का फल तत्काल मिल जाता है और किसी का निश्चित समय बीतने पर मिलता है। पर मिलता अवश्य है। अग्नि में हाथ डाल देखो, उसी दम जल जायगा। किसी गुण्डे को गाली दे दो, उसी समय गाल लाल हो जाएँगे। लेकिन आम का पौधा लगाने से फल खाने तक हमें किसी निश्चित समय तक प्रतीक्षा करनी ही होगी। यदि हम बीज बबूल का बोते हैं, तो आम खाने की कामना करना भी मूर्खता की बात ही समझी जायेगी।

वेदान्ती भाई चूँकि बहुत दूर की उड़ान लेते हैं और आत्मा को परमात्मा में लीन कर देते हैं—तब वे जघन्य से जघन्य काम करने पर भी अपने आपको उसके फल से दूर रख देते हैं। वे रहते तो धरती पर हैं, किन्तु बातें आकाश की करने लगते हैं। उनकी ऐसी धारणा को मैं केवल आत्म-सन्तोष मात्र ही कहा करता हूँ। और जो भाग्यवाद की चरम सीमा पर पहुँच कर अन्ध-विश्वास की पट्टी आँखों पर बाँध लेते हैं, वे जब यह कहते हैं कि भगवान् की इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल पाता है, तो जो भी चोरी-चकारी, अनाचार, व्यभिचार वे करते हैं, उनके पीछे ईश्वर को जोड़ देते हैं। इस प्रकार वे भी आत्म-सन्तोष कर लेते हैं। कैसा सामंजस्य है दोनों के चिन्तन में! आश्चर्य की बात है! लेकिन मुख्य बात को वे भूल जाते हैं। वह यह कि कर्म करने में तो हमें भगवान् ने पूर्ण स्वतंत्र बनाया है। उस स्वतन्त्रता का प्रयोग हम अपनी बुद्धि द्वारा करते हैं। पशु-पक्षी बुद्धिवादी नहीं होते—वे सहज-कर्म प्रकृति-वश करते हैं। मानव वैसा पशु-पक्षी नहीं है। तभी तो उसे सब जीव-जन्तुओं का मुखिया माना गया है। वह अपनी बुद्धि के प्रयोग द्वारा ही शेर को पिंजरे में डाल लेता है, ताकत से नहीं। यह बुद्धि ही हमारे सब कार्यों के करने के पीछे होती है। इसीलिए बुद्धि को निर्मल बनाए रखने के लिए लोग गायत्री का जाप करते हैं। इस मन्त्र से हम भगवान् से केवल प्रार्थना तो करते हैं कि वे हमारी बुद्धि को शुद्ध बनाए रखें। जब वहाँ मलिनता आ जाती है, तब हमारे सब कर्म गन्दे हो जाते हैं।

चूँकि मानव कर्म करने में स्वतन्त्र है, इस-लिए उसके फल की प्रतिक्रिया एवं परिणामों के जिम्मेवार भी हम हैं। यह कैसे हो सकता है कि कलम को अपने हाथ में पकड़ कर मैं किसी मित्र को गालियों से भरा पत्र लिखूँ और उसके रोष प्रकट करने पर मैं कह दूँ--साहब, मैंने गालियाँ नहीं लिखी थीं, वे तो भगवान् ने लिखी थीं। यदि ऐसी बात कोई शराबी कह दे तो बात दूसरी है। परन्तु शराब के नशे के आधीन जो कुकर्म होते हैं, उनमें भी भगवान् को कैसे घुसेड़ा जाएगा। शराबी तो जान-बूझकर शराब पीता है। वह अपने अन्तः मन में लड़ाई अथवा मार-कुटाई की तैयारी स्वयं कर रहा होता है। भगवान् तो उसके मुँह में बोतल उँडेलने नहीं आते हैं।

यह भी एक बहुत बड़ा सत्य है कि मानव अपनी किस्मत का खुद निर्माता होता है। हम किसी से अच्छा व्यवहार करते हैं, अपनी

ड्यूटी तन मन से पूरी करते हैं, अथवा जी-जान लगा कर किसी कार्य का सम्पादन करते हैं, तो समझो हम अपना भाग्य निर्माण कर रहे हैं। इसके विपरीत यदि हम अपना काम लापरवाही से करते हैं या हमेशा बुरा ही बुरा चिन्तन करते हैं, तो स्पष्ट है कि हम अपने भाग्य का विनाश अपने ही हाथों कर रहे होते हैं। ऐसा करने से जो सांसारिक असफलताएँ हमें होंगी उनके लिए भगवान् को दोषी ठहराना भी मूर्खता की बात है। भगवान् आकाश से किसी विद्यार्थी की पुस्तकें पढ़ने के लिए न कभी उतरा है और न ही कभी उतरने वाला है। हमें इस धरती पर अपनी रक्षा स्वयं करनी होगी।

अब आपकी समझ में आ गया होगा कि हमारे जीवन में आने वाले अधिकतर सुखों और दुखों का सम्बन्ध हमारे कर्मों से बँधा रहता है। इनकी हमारे जीवन में बड़ी महत्ता है। इस तथ्य को दृष्टिच्युत नहीं किया जा सकता। कर्म किए बिना हमारा जीवन चल नहीं सकता। अपने सुख-समृद्धि और भौतिक सफलताओं के लिए हमें प्रयत्न करना ही पड़ता है, अन्यथा हमारी उदर-पूर्ति कोई दूसरा नहीं करने आयेगा। अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सब को सतत ईमानदारी से अपना-अपना धर्म निभाना होगा। हमारी सांसारिक चिन्ताओं, निराशाओं, और व्यथाओं इत्यादि का सब से बड़ा मूलभूत कारण यही है कि हम किसी कार्य को करते समय उसमें अहं एवं अहङ्कार का विष घोल देते हैं। वही विष हमारी शान्ति को अशान्ति में बदल कर झंझावात पैदा कर देता है, और तब हमारे पैर उखड़ जाते हैं। जब हम अपने आप को कर्त्ता मान बैठते हैं, तभी हमारे जीवन में निराशा का सूत्रपात होने लगता है। कुरुक्षेत्र के मैदान में जब अर्जुन ने अपने भाग्य को कर्त्ता मान लिया था तो वह भी निराशा की खाई में गिर पड़ा था।

लेकिन सामान्यतया हमारी विचारधारा उलटी ही चला करती है। कर्म करने में हम अपने आपको उसमें इतना घोल-मेल देते हैं कि उससे अलग अपने आपको रख नहीं पाते। उन कर्मों की प्रतिक्रियाओं पर रोने-धोने और माथा पीटने का यही एक प्रमुख कारण है।

यदि कर्म को ड्यूटी की भावना से किया जाए तो पश्चाताप हमें सता नहीं पाएगा। दत्त-चित होकर पढ़ना विद्यार्थी की ड्यूटी है। जब उसे उत्तीर्णता प्राप्त हो तो अहंकार की भावना मन में नहीं लानी चाहिए। अनुत्तीर्णता की हालत में न भगवान् को गालियाँ देनी चाहिए और न ही किस्मत को कोसना चाहिए, प्रत्युत अपने किए गये प्रयास में सुधार लाकर दुगने उत्साह से जुट जाना चाहिए। तब अन्त में सफलता को हार खानी ही पड़ती है।

किसी कार्य को सम्पादित करते समय जब हम उसमें अपने आपको मुख्य रूप से कर्त्ता मान बैठते हैं, तभी हमें निराशा होती है। तभी हम कुएं में छलांग लगाने की बात सोचा करते हैं। तभी हम गाड़ी तले सिर देने के लिए चल पड़ते हैं। ऐसी परिस्थितियों से बचने का एक मात्र उपाय यही है कि किसी काम को करते समय यह तटस्थ वृत्ति को अपनाएँ। मन में अटूट धारणा होनी चाहिए कि मैं कर्त्ता नहीं हूँ, वरन् एक अभिनेता मात्र हूँ, जिसके पीछे कोई निर्देशक रहता है। तब हम अभिनेता वृत्ति से अपना काम कर सकेंगे, और प्रतिक्रियाओं से बच जाएँगे।

राजयोग ग्रंथमाला

अलौकिक चिकित्सा विज्ञान

अमेरिका में योग धारक बाबा रामचरक जी की अँग्रेजी पुस्तक का अनुवाद चित्रमय छपा है। इसमें मानसिक चिकित्सा द्वारा अपने तथा दूसरों के रोगों को मिटाने के अद्भुत साधन दिये हैं। मूल्य २) रुपया, डाक खर्च ३१ न० पै०

सूर्य किरण चिकित्सा

सूर्य किरणों द्वारा भिन्न-भिन्न रंगों की बोतलों में जल, तेल तथा अन्य औषधि भर कर सूर्य की शक्ति संचित कर तथा रंगीन काँचों द्वारा सूर्य की किरणें व्याधिग्रस्त स्थान पर डाल कर अनेक रोग बिना एक पाई भी खर्च किये दूर करना तथा रोगों के लक्षण व उपचार के साथ पथ्यापथ्य भी दिये गये हैं। नया संस्करण मूल्य ५), रुपया डाक खर्च ४० न० पै०

संकल्प सिद्धि

स्वामी ज्ञानाश्रमजी की लिखी हुई यथा नाम तथा गुण सिद्ध करनेवाली, सुख, शांति, आनन्द, उत्साहवर्द्धक यह पुस्तक दुबारा छपी है। मूल्य २) रुपया, डाक खर्च ३२ न० प०

प्राण चिकित्सा

हिन्दी संसार में मेस्मेरिज्म, हिप्नटिज्म, चिकित्सा आदि तत्वों को समझाने व साधन बतलाने वाली एक ही पुस्तक है। कल्पवृक्ष के सम्पादक नागरजी द्वारा लिखित गम्भीर अनुभवपूर्ण तथा प्रामाणिक चिकित्सा के योग इसमें दिये गये हैं। जीवन में इस पुस्तक के सिद्धांतों से दीन-दुखी संसार का उपकार कर सकेंगे मूल्य २) रुपया, डाक खर्च ३२ न० प०

प्रार्थना कल्पद्रुम

प्रार्थना क्यों तथा किस प्रकार करनी चाहिए। दैनिक सामूहिक प्रार्थना द्वारा अनिष्ट स्थिति से मुक्त होने व दूरस्थ मित्रों व मृत आत्माओं को शांति व अनोखा संदेश दिलाने वाली आज के संसार में अपूर्व पुस्तक है। मूल्य५० न०पै० डा०१२न०पै०

आध्यात्मिक मण्डल

घर बैठे आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करने व साधन करने के लिए यह मण्डल स्थापित किया गया है जिससे स्वयं शारीरिक व मानसिक उन्नति कर अपने क्लेशों से मुक्त होकर दूसरों का भी कल्याण कर सकें। सदस्य बनने वालों की शिक्षा व साधन के लिए प्रवेश शुल्क १०) है और निम्नलिखित पुस्तकें दी जाती हैं:—

१–प्राण चिकित्सा २–प्रार्थना कल्पद्रुम ३–ध्यान से आत्म चिकित्सा ४–प्राकृतिक आरोग्य विज्ञान ५–आरोग्य साधन पद्धति ६–अध्यात्म शिक्षा पद्धति ७–त्राटक चार्ट ८–ॐ दर्शन ९–आत्म रक्षा १०–कल्पवृक्ष एक वर्ष तक ११–अमूल्य उपदेश।

कोई भी सदाचारी व्यक्ति वेश फार्म मँगाकर सदस्य बन सकता है।

अमूल्य उपदेश

कल्पवृक्ष में पूर्व प्रकाशित अमूल्य उपदेशों का दूसरा संस्करण। मूल्य २) डाक खर्च २४ न० पै०

योगासनचित्र ७५ न० पै० डा० १६ न० पै०

स्व० पं० शिवदत्त शर्मा की पुस्तकें

सोहम् चमत्कार ५० न० पै० ध्यान की विधि ५० न० पै० आरोग्य आनंदमय जीवन ८७ न० पै० ॐकारजप ५० न० पै०

विश्वामित्र वर्मा द्वारा लिखित नई पुस्तकें

प्राकृतिक चिकित्सा विज्ञान

रोग क्यों तथा कैसे होता है, तथा दवा दारू, चीर फाड़, और जड़ी बूटी के बिना, दाम कौड़ी खर्च के बिना कैसे जाता है, विख्यात डाक्टरों का अनुभव मूल्य १) ५० न० पै०

यौगिक स्वास्थ्य साधन १)

प्राकृतिक स्वास्थ्य साधन

स्वास्थ्य के नये साधन, पौरुषवर्धक नये व्यायामों के २६ चित्र, भोजन की कायाकल्पक कारक नवीन वैज्ञानिक व्याख्या तथा नुस्खे। मूल्य २) डा०२४न०पै०

आत्म सिद्धि

अथवा दिव्य व्यावहारिक अध्यात्म आत्म विकास द्वारा उन्नति और सफलता प्राप्त करने के व्यावहारिक साधन १)

दिव्य सम्पत्ति

दुःखी थके, उलझनों में फँसे, भ्रांत और निराश लोगों के लिए दिव्य रसायन। मूल्य ५०न०प०

दिव्य भावना (चार्ट) २५ न० पै०

भोजन निर्णय चार्ट २५ न० पै०

मिलने का पता—कल्पवृक्ष कार्यालय, उज्जैन, (मध्य प्रदेश)।

अभी आपको बहुत जीना है !

जीवन के दिन आपको गिनकर नहीं मिले हैं और मरने की भी ललाट पर लिखी नहीं है। जन्मे हुए की मृत्यु यद्यपि अवश्य मौत टाली जा सकती है, उम्र बढ़ सकती है। अपनी अनजान भूल और अनेक इलाज होकर भी रोग बढ़कर पुराना और असाध्य हो निराश होकर श्मशान जाने के दिन का इन्तजार कर रहे हों शरण में आइए, अपनी गलतियों का सहज प्रायश्चित कर, कि दवा, इन्जेक्शन या चीरफाड़ के बिना, केवल सूर्य, अग्नि, मिट्टी विभिन्न प्रयोगों से आत्मशुद्धि कर उचित आहार विहार द्वारा नया करें।

इस प्राकृतिक उपचार पद्धति से—

तन और मन के मल विकार निकलते हैं,

दवाओं का पुराना जमा हुआ विष भी निकलता है,

मोटा व्यक्ति हल्का, कमजोर बलवान बनता है,

तन-मन शुद्धि से पुराना शरीर नया होता है,

कायाकल्प होता है, उम्र बढ़ जाती है,

जीते जी पुनर्जन्म होता है,

रोगी स्वयं अपना डॉक्टर बनता है,

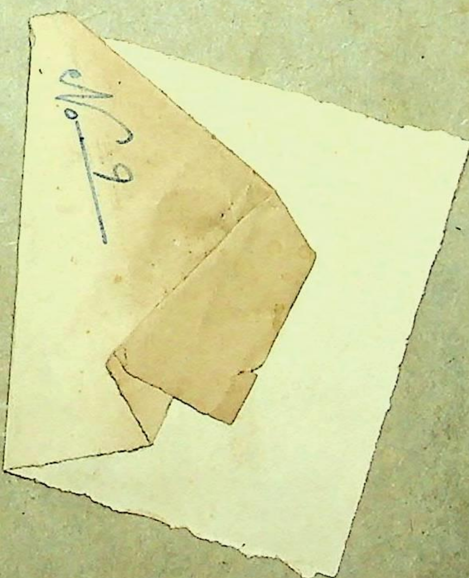
निराश मत होइए, जीवन जीने योग्य है, बार बार यह अनमो नहीं मिलता।

प्राकृतिक चिकित्सालय,

गंगाघाट, उज्जैन, मध्य प्रदेश

व्यवस्थापक व प्रकाशक—डॉ० बालकृष्ण नागर, कल्पवृक्ष कार्यालय, उज्जैन, (

मुद्रक—भक्तसज्जन, बेलविडियर प्रिंटिंग वर्क्स, इलाहाबाद-२


No 9



